

॥ श्री ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीतम्

किरातार्जुनीयम्

श्रीकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया 'घण्टा मय' व्याख्यया

साहित्याचार्य-जनादनशास्त्रिपाण्डेय-एम० ए० कृतया

अन्वय-पदार्थ-भाषार्थ-विशेषवक्तव्य-

रूपया विवृतया च समुल्लसितम्

द्वितीय सर्गः

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना

बंगलौर मद्रास



॥ श्री ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीतम्

किरातार्जुनीयम्

श्रीकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया 'घण्टापथ' व्याख्यया

साहित्याचार्य-जनार्दनशास्त्रिपाण्डेय-एम० ए० कृतया

अन्वय-पदार्थ-भाषार्थ-विशेषवक्तव्य-

रूपया विवृत्या च समुल्लसितम्

द्वितीयः सर्गः



मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना

बंगलौर मद्रास

संस्करण : १९८८

© मोती लाल बनारसीदास

मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७

शाखाएँ : चौक, वाराणसी २२१ ००१

अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४

२४ रेसकोर्स रोड, बंगलौर ५६० ००१

१२० रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४

मूल्य : ₹० ४.५०

10/



नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५,
फेज-१, नारायणा, नई दिल्ली-२८ द्वारा मुद्रित ।



किरातार्जुनीयम्

द्वितीयसर्गका संक्षेप

युधिष्ठिरके प्रति भीमकी उक्ति

द्रौपदीने सब प्रकारसे विचारकर जो वचन कहे हैं उनसे बृहस्पतिको भी आश्चर्य होगा। जैसे सीढ़ियोंसे उतरकर गहरे तालाबमें सभी नहा लेते हैं किन्तु सर्वप्रथम उसमें सीढ़ी बनानेके लिए गोता मारनेवाले कम ही मिलते हैं, वैसे ही शास्त्रोंको पढ़कर सुनानेवाले कई होते हैं किन्तु उनका मर्मज्ञ कोई विरला ही होता है। आप गुणग्राही हैं अतः द्रौपदीकी उक्ति आपको भी प्रिय होनी चाहिये, स्त्रीका कथन है, इसलिए इसकी उपज्ञा न कीजिये। जैसे औषध स्वल्पमात्रामें भी बड़ा गुण दिखाती है ऐसे ही इसका कथन संक्षिप्त होनेपर भी सारवान् है।

हे राजन्, बहुशास्त्रज्ञ होनेपर भी आपकी बुद्धि दलदलमें फँसी हथिनीकी तरह कष्ट क्यों पा रही है? देवता भी जिसके पौरुषको सराहते थे उसकी यह दशा हो, इससे अधिक दुःखका विषय क्या होगा?

विद्वान् व्यक्ति शत्रुके उस अभ्युदयको भी सह लेता है जो अन्तमें उसे (शत्रुको) ले डूबे और उस विनाशको भी नहीं सहता जिससे भविष्यमें शत्रुकी उन्नति होती हो। शत्रुकी प्रचुर क्षति शीघ्र होनेवाली हो और अपनी थोड़ी-सी क्षति चिरकालमें होती हो तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये, यदि इसके विपरीत हो तो शीघ्र प्रतीकार करना चाहिये। शत्रुके बढ़ते हुए धन और बलकी उपेक्षा करनेवालेको लक्ष्मी लोकापवादकी डरसे छोड़ देती है। क्षीणशक्ति राजा भी तेजस्वी हो और समृद्धिके लिए उद्योग करता हो तो प्रजा दूजके चाँदकी तरह उसे प्रणाम करती है। जैसे किसान मेघकी प्रतीक्षा करते हैं वैसे ही नीति भी क्षिप्रकारिताकी प्रतीक्षा करती है। ऊँचे पदमें आरूढ़ होनेकी इच्छावालेको अपने पौरुषका ही सहारा मिलता है। पौरुषसे हीनको विपत्तियाँ कष्ट देती हैं, विपत्तिवालेका भाग्य साथ नहीं देता, अभाग्य व्यक्ति हीन समझा जाता है और राज्यलक्ष्मी उसे प्राप्त नहीं होती। इसलिए उन्नतिके अवरोधक निरुद्योगका आश्रय छोड़िये क्योंकि समृद्धियाँ पराक्रमीके पास रहती हैं, विषादीके पास नहीं। यदि १३ वर्षकी उम्रकी प्रतीक्षामें रहेंगे तो इतने समय तक जिस राज्यसुखका दुर्योधन स्वाद ले चुका है उसे आसानीसे कैसे छोड़ देगा। हे राजन्! यदि उसने राज्य तुम्हें दे भी दिया तो तुम्हारे भाइयोंकी भुजओंका यह बल किस काम आयेगा। मृगेन्द्र भी अपने द्वारा मारे हुए हाथियोंसे ही अपनी भूख मिटाता है दूसरोंके मारेसे नहीं, इसलिए संसारमें वह सबसे अधिक प्रतापी कहा जाता है। अभिमानी और चिरस्थायी पद चाहनेवालेके लिए चंचल लक्ष्मी तो गौणफल है। भस्मके ढेरको सभी लॉभ जाते हैं किन्तु जलती आगको कोई नहीं लॉभता। मनस्वी लोग पराक्रमके भयसे प्राण छोड़

देते हैं किन्तु यश नहीं छोड़ते। सिंह गरजते बादलोंको नहीं सह सकता क्योंकि बड़े लोगोंका यह स्वभाव होता है वे दूसरोंकी बढ़ती नहीं सह सकते, इसलिए आप भी प्रमाद जन्य अज्ञानको छोड़कर पौरुष दिखाइये जिससे निश्चय ही ये विपत्तियाँ समाप्त हो जायँगी। चार दिग्गजों या चार समुद्रोंकी तरह अतुलपराक्रमी तुम्हारे चार भाइयोंको रणमें कौन जीत सकता है? शत्रुओं द्वारा सुलगाई तुम्हारे चित्तकी आग उनकी पत्नियोंके अमंगल आँसुओंसे ही बुझनी चाहिये।

भीमके प्रति युधिष्ठिरकी उक्ति

अपने मनोविकारको प्रकट करते हुए क्रोधपूर्ण भीमको युधिष्ठिरने उन्मत्त हाथीको वशमें करनेकी तरह शान्त करते हुए कहा—

सप्रमाण, शुद्ध और मनोहर इन वचनोंसे तुम्हारी बुद्धि ऐसी निर्मल प्रतीत होती है जैसे स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्ब। क्योंकि स्पष्टार्थक पद, अर्थ-गौरवकी सुरक्षा, ब्राणीकी भिन्नार्थकता और सामर्थ्यका अपरित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध और युक्तियुक्त वचन दूसरा कौन कह सकता है? फिर भी मेरा हृदय कर्तव्यनिर्णयमें सन्दिग्ध है क्योंकि सन्धिविग्रहादिके विशेष अवान्तर भेदोंका भी विचार करना चाहिये। सहसा कोई काम नहीं करना चाहिये, अविवेकसे भयंकर आपत्तियाँ आती हैं, विचारपूर्वक काम करनेवालेको सम्पत्तियाँ स्वयं वरण करती हैं। विवेकी पुरुषोंकी क्रियाएँ सफल होती हैं, अविवेकियोंकी नहीं। शास्त्र शरीरका, शान्ति शास्त्रका, पराक्रम शान्तिका और विवेकपूर्वक नीति पराक्रमका भूषण है। जब मन्त्रमें मतभेद होता है तब शास्त्र इस प्रकार कर्तव्यका निर्णय करता है जैसे दीपक अंधेरेमें वस्तुओंको प्रकाशित कर देता है। विद्वानोंसे निर्दिष्ट मार्गमें चलनेपर यदि भाग्यवश पतन भी हो तो वह उन्नतिके ही समान है। क्रोध नहीं करना चाहिये। सूर्य भी रोपमय अन्धकारको हटाकर ही उदय होता है। कृष्णपक्षमें चन्द्रमाकी कलाओंकी भाँति क्रोधीकी सम्पत्तियाँ भी धीरे-धीरे क्षीण होती जाती हैं। सूर्यकी भाँति जो राजा समयपर तीक्ष्ण और समयपर मृदु हो जाता है वही जगतको वशमें कर सकता है। लक्ष्मीको सुस्थिर रखना और इन्द्रियरूप घोड़ोंके वश होना परस्पर विरोधी बातें हैं। चंचल लक्ष्मी अजितेन्द्रियोंके पास नहीं रह सकती। अपने धैर्यसे समुद्रको भी नीचा दिखाकर अब असमयमें क्रोध उभाड़कर इस यशको क्यों छोड़ते हो? जो शास्त्रज्ञ होकर भी क्रोधादि रिपुओंकी नहीं जीत लेता लक्ष्मी उसके वशमें नहीं रहती। साधारण मनुष्योंकी भाँति तुम्हें इन्द्रियोंको जलानेवाले क्रोधके वशमें नहीं होना चाहिये। भविष्यको उन्नत करके हिंसा दोषके बिना शत्रुओंको वशमें करनेवाला शान्तिसे दूसरा कोई उपाय नहीं। स्वाभिमानी यादव गण तथा उनके सहज और कृत्रिम मित्र भी इस समय भले ही दुर्योधनके साथ हों, किन्तु हमसे स्वाभाविक स्नेह होनेसे वे उचित समयपर उसे छोड़ देंगे। समयके पूर्व यदि हम आक्रमण कर देंगे तो सारा राजसमूह ऐसे उमड़ जायगा जैसे सूर्योदय होनेपर कमल। प्रतीक्षा करनेपर उन्मत्त दुर्योधनके व्यवहारसे राजा लोग उसे छोड़ देंगे, क्योंकि साधारण जन भी अपमान नहीं सहता, राजाकी कौन कहे? अहंकारी राजाकी विभूतियाँ उसके स्के हुए मदको बढ़ा देती हैं। मदसे उद्विग्न होनेपर उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है; नष्टबुद्धि राजा नीतिको छोड़ देता है और अनीति वरतनेवाला

प्रजाका प्रिय नहीं होता है। जैसे शिथिल जड़ोंवाला वृक्ष हवाके साधारण श्रोंकों से उखड़ जाता है ऐसे ही जिसके अमात्यादि अंग शिथिल हैं वह राजा शीघ्र नष्ट किया जा सकता है। जैसे वृक्षकी शाखाओंकी परस्पर रगड़से उत्पन्न अग्नि उसे जला देती है वैसे ही राजा-अमात्यादि का आपसी मतभेद उन्हें विलीन कर देता है। जीर्ण तटको नदीके वेगकी तरह भेदको प्राप्त बाहरी और भीतरी मण्डल राजाको शीघ्र नष्ट कर देता है।

इस प्रकार युधिष्ठिर व्यग्र भीमसेनको समझा ही रहे थे कि भगवान् व्यास मूर्तिमान् मनोरथकी भाँति प्रकट हो गये। उनके दर्शनसे ही वहाँके पशुपक्षियोंका विरोध शान्त हो गया। तेजोराशि व्यासजीको युधिष्ठिरने मूर्तिमान् पुण्यराशिकी तरह समझा। धर्मराज युधिष्ठिरने सावधानीसे उनकी पूजा की और स्वयं भी आसन पर बैठ गये। बृहस्पतिके सामने रहनेवाले पूर्ण चन्द्रकी भाँति वेदव्यासजीके सामने बैठे युधिष्ठिर शोभित हो रहे थे।



द्वितीयसर्गस्थ सूक्तियाँ

ननु वक्त्रविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्णा वचने विपश्चितः ॥ श्लोक ५ ॥

विषदोऽभिभवन्त्यविक्रमं ॥ १४ ॥

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

लघयन्वत्तु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

अभिभूतिभयादसूततः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥ २० ॥

प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥ २९ ॥

सहसा विदधीत न क्रियाम् ॥ ३० ॥

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः ॥ ३२ ॥

सुकृतः परियुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्धदर्शनम् ॥ ३३ ॥

विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ ३४ ॥

विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ॥ ३५ ॥

अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ॥ ३६ ॥

असुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

सहते न जनोऽप्यधः क्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

अतिमूढमुदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

विषदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥

द्वितीयः सर्गः

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।

उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ, वृकोदरः, प्रियया, विहितां, मनःप्रियां, गिरं, गरीयसीं, निश्चित्य, नृपं, उपपत्तिमत्, ऊर्जिताश्रयं, वचनम्, ऊचे ॥

पदार्थः—अथ = द्रौपदी के इतना कहने के बाद । वृकोदरः = भीमसेन । प्रियया = द्रौपदीके द्वारा । विहितां = कहीं गई । मनःप्रियां = मनोहर । गिरं = वाणीको । गरीयसीं = अत्यन्त सारयुक्त । निश्चित्य = समझकर । नृपं = युधिष्ठिरको । उपपत्तिमत् = युक्तिपूर्ण । ऊर्जिताश्रयं = उदार आश्रय वाले । वचनं = वाक्य । ऊचे = बोला ॥

घण्टापथः—विहितामिति । अथ [वृकस्य उदरमिव उदरं यस्याऽसौ] वृकोदरः = भीमः । प्रियया = द्रौपद्या । प्रियाग्रहणमस्या हितोपदेशतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम् = अभिहितामित्यर्थः । विपूर्वस्य दधातेः क्रियासामान्यवाचिनो योगविशेषपर्यवसानात् । [मनसः प्रिया, ताम्] मनःप्रियाम् = अभिमतार्थयोगान्मनोहराम् । विशेषद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तम् । गिरं [= वाचं] [अतिशयेन शुर्वी गरीयसी, तां] गरीयसीं = सारवत्तरां निश्चित्य । नृपं = धर्मराजम् । [उपपत्तिरस्त्यस्य तत्] उपपत्तिमत् = युक्तियुक्तम् । [ऊर्जित आश्रयो यस्य तत्] ऊर्जिताश्रयम् = उदारार्थ । वचनम्-ऊचे = उक्तवान् । कर्तरि लिट् । ब्रुवो वचिरादेशः । 'ब्रुविशासी' त्यादिना द्विकर्मकत्वम् । 'अकथितन्वे'ति नृपस्य कर्मत्वम् ॥ १ ॥

वाच्यं—प्रियया विहितां मनःप्रियां गिरं गरीयसीं निश्चित्य वृकोदरेण नृपः उपपत्तिमत् ऊर्जिताश्रयं वचनम् ऊचे ॥

भावार्थः—तदनन्तरं स्वमनसोऽनुकूलं द्रौपद्युक्तां गिरं सारवत्तरां मत्वा भीमसेनः राजानं प्रति युक्तियुक्तं तेजोव्यञ्जकमुदाराश्रयं च वचनमुक्तवान् ॥

भाषार्थः—इसके बाद प्रिया द्रौपदीकी वाणीको, अपने मनके अनुकूल होने से अत्यन्त सारवान् समझकर भीमसेनने युधिष्ठिरसे युक्तियुक्त और तेज प्रकट करनेवाले वचन कहे ॥

विशेष—यहाँ द्रौपदी के लिये 'प्रियया' विशेषणसे सूचित होता है कि द्रौपदी हमारी प्रिया है अतः वह कभी हमारा अहित नहीं सोच सकती और उसका कथन हमें मानना ही चाहिये । इस सर्गमें वियोगिनी छन्द है जिसका लक्षण है "विषमे ससजाः गुरुः सने सभरा लोथ गुरुर्वियोगिनी" अर्थात् इसके विषमपादोंमें सगण, सगण, जगण, और गुरु तथा समपादोंमें सगण, भगण, रगण, लघु और गुरु होता है । यह ११ वर्णोंका छन्द होता है और १०।११ में

विराम होता है। प्रायः विलाप और मनोव्यथाएँ इसी छन्दमें कविलोग वर्णन करते हैं। कालिदासने भी कुमारसम्भवमें रतिविलाप और रघुवंश में अजविलाप इसी छन्दमें वर्णन किये हैं ॥ १ ॥

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।

अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

अन्वयः—मानिनी, स्नेहमयेन, चक्षुषा, परितः, वीक्ष्य, यद्, अवोचत्, दुर्वचं, तद् वचनं, वागधिपस्य, अपि, विस्मयं, विदधीत।

पदार्थ—मानिनी=अभिमानवती (द्रौपदीने)। स्नेहमयेन=स्नेहसे भरे। चक्षुषा=नेत्रसे। परितः=चारों ओर। वीक्ष्य=देखकर। यद् अवोचत्=जो कुछ कहा। दुर्वचं=दूसरों से कठिनतासे कहा जानेवाला। तद्वचनं=वह वचन। वागधिपस्य अपि=बृहस्पतिको भी। विस्मयं=आश्चर्य। विदधीत=कर देगा।

घष्टापथः—यदिति। [मानः अस्याः अस्तीति] मानिनी=क्षत्रियकुलभिमानवती द्रौपदी। [स्नेहः प्रकृतोऽस्मिन् तद् स्नेहमयं, तेन] स्नेहमयेन=स्नेहप्रचुरेण। 'तत्प्रकृतवचने मयद्'। चक्षुषा=शानचक्षुषा। पतेनाप्तत्वमुक्तम्। परितो वीक्ष्य=समन्ततो विविच्य। यद्वचनमवोचत्। नवो वक्तुर्वा लद्। 'वच उम्' इत्युमागमः। [वाचामधिपः, तस्य] वागधिपस्य=बृहस्पतेरपि। दुर्वचं=वक्तुमशक्यम्। शेषे पष्ठीयम्, न कृद्योगलक्षणा, अतो 'न लोक-' इत्यादिना पष्ठीप्रतिषेधो नास्ति। तद्=वचनं विस्मयं विदधीत।, सर्वस्यापीति शेषः। अथवा वागधिपस्यापि विस्मयं विदधीतेति सम्बन्धः। दुर्वचम्। 'केनापीति' शेषः। यतः स्रौणर्माप शास्त्रमनुरुणद्धि, हितं चानुबध्नाति—अतो विस्मयकरं ग्राह्यं चैतद्वचनमिति तात्पर्यार्थः ॥२॥

वाच्यं—मानिन्या स्नेहमयेन चक्षुषा परितः वीक्ष्य यदवोचत्, दुर्वचनं, तेन वचसा वागधिपस्यापि विस्मयो विधीयेत ॥

भावार्थः—कुलभिमानशालिनी द्रौपदी स्नेहपूर्णया दृष्ट्या सर्वं विविच्य यदुक्तवती अन्येन केनापि वक्तुमशक्यं तद्वचः वाचामधिपतेरपि विस्मयकारकं भवेत् का कथाऽन्यस्य।

भावार्थ—कुलकी मर्यादाका अभिमान करती हुयी द्रौपदीने स्नेहभरी दृष्टिसे सब ओर देखकर जो कुछ कहा, दूसरोंसे अकथनीय वह वचन, साक्षात् वागिणियों के देवता (बृहस्पति) को भी आश्चर्य में डाल देगा।

विशेष—मानिनीका अर्थ है कि उसे वंशकी मर्यादाका पूरा ध्यान है अतः वह जो कुछ कही है मर्यादाकी रक्षाके लिये। 'स्नेहमयेन चक्षुषा परितो विलोक्य' का तात्पर्य है वह हमसे स्नेह करती है अतः हमारे हितकी दृष्टिसे उसने पूर्वापरका अच्छी प्रकार विचार करके ही ये बातें कहीं हैं। "वागधिपस्यापि दुर्वचं तद्वचनं (कस्मै) विस्मयं न विदधीत" अर्थात् "बृहस्पति भी जैसा नहीं बोल सकते ऐसे इसके वचनसे किसे आश्चर्य न होगा।" यही अर्थ प्रायः टीकाकारोंने किया है। मल्लिनाथको भी यही अभीष्ट है। इसलिये उन्होंने दूसरे अर्थको अथवासे लिखा है। किन्तु हमारे विचारसे "द्रौपदीने जो कहा है ऐसा बृहस्पति भी नहीं बोल सकते" यह कथन उचित नहीं। इससे वागधिपके अधिपत्वको ठेस लगती है और अत्युत्कृष्ट

द्रौपदीके वचनसे उन्हें आश्चर्य होनेमें कोई क्षति नहीं । इस पक्षमें 'दुर्वच' का अर्थ होगा 'सुननेमें कठोर होनेपर भी' ॥ २ ॥

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः ।

स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विषमः, अपि, नयः, (विषमः) पयसाम्, आशयः, इव, कृततीर्थः, (सन्) विगाह्यते, तु, तत्र, सः, विशेषदुर्लभः, यः, कृत्यवर्त्म, सद् उपन्यस्यति ।

पदार्थः—विषमः अपि=दुर्वोध भी । नयः=नीतिशास्त्र । कृततीर्थः (सन्)=अभ्यास आदि उपाय करनेपर । (विषमः=अगाध) पयसाम् आशय इव=जलाशयकी तरह, (कृततीर्थः सन्=सीढ़ी आदि बन जानेपर) । विगाह्यते=विलोडित किया जा सकता है । तु=किन्तु । तत्र=उसमें (नीतिशास्त्रमें और जलाशयमें) । सः=वह (पुरुष) । विशेषदुर्लभः=अत्यन्त दुर्लभ है । यः=जो । कृत्यवर्त्म=कार्य साधनके योग्य मार्गको (नीतिशास्त्रमें—सन्धिविग्रहादि कार्योंके प्रकारको और जलाशयमें उतरकर स्नानादिके प्रकारको) । सत्=अच्छी प्रकार । उपन्यस्यति=उदाहरण रूपमें रख देता है ।

घण्टापथः—विस्मयकरत्वे हेतुमाह—विषम इति । विषमोऽपि=दुर्वोधोऽपि अन्यत्र—दुष्प्रवेशोऽपि । नयः=नीतिशास्त्रम् । पयसासाशयः=हृद इव । (कृतं तीर्थं यस्मिन् सः) कृततीर्थः=कृताभ्यासाद्युपायः सन् । 'तीर्थं शान्नाध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः । अन्यत्र कृतजलावतारः सन् । 'तीर्थं योनी जलावतारे च' इति हल्युधः । विगाह्यते=गृह्यते, प्रविश्यते च । किन्तु—तत्र=नये, जलाशये च । सः=तादृशः पुरुषः । [विशेषेण दुर्लभः] विशेषदुर्लभः=अत्यन्तदुर्लभः । यः कृत्यं=सन्धिविग्रहादिकार्यं, स्नानादिकं च । तस्य वर्त्म [मार्ग] सत्=साधु, देशकालाद्यविरुद्धं यथा तथा । अन्यत्र गतग्राहपापाणादिरहितं यथा तथा । उपन्यस्यति=उदाहरति । 'उपन्यासस्तु बाङ्मुखम् । उपोद्धात उदाहारः' इत्यमरः । यथा केनचित्कृततीर्थे पयसि गम्भीरेऽपि प्रवेष्टारः सन्ति, तीर्थकारस्तु विरलः । तद्वन्नीतावपि गूढमपि तत्त्वं वक्तुं सति बोद्धारः सन्ति, वक्ता तु न सुलभः । अत इयमपठितापि साधु वक्तीति युज्यते विस्मय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

वाच्यं—विषमम् अपि नयं कृततीर्थं पयसामाशयमिव विगाह्यते । तत्र तु तेन विशेष-दुर्लभेन (भूयते) येन कृत्यवर्त्म सद् उपन्यस्यते ॥

भावार्थः—यथा दुष्प्रवेशो जलाशयः केनापि घट्टादौ निर्मिते सति सर्वत्रैव प्रविश्यते, किन्तु स सर्वप्रथमं घट्टनिर्मातृव दुर्लभो भवति तथैव दुर्वोधमपि नीतिशास्त्रमुपदेष्टरि विचमाने सर्वत्रैव-बुध्यते किन्तु तत्र विश्व उपदेष्टैव दुर्लभः ॥

भाषार्थः—जैसे अगाध जलाशयमें उतरनेके लिये सीढ़ी आदि बन जाने पर तो सभी उसमें स्नान, करने उतर जायेंगे किन्तु दुर्लभ तो वह व्यक्ति है जो स्वयं पहिले उसमें उतरकर सीढ़ी बनानेका उदाहरण उपस्थित कर दे । इसी प्रकार कठिन नीतिशास्त्र भी कुशल

वक्तासे सुनकर सबके लिये ग्राह्य हो सकता है, किन्तु बिना किसीसे सुने स्वयं उपयुक्त अर्थ लगाकर दूसरोंको समझानेवाला दुर्लभ है ॥

विशेष—इस श्लोक से भीमका तात्पर्य है कि द्रौपदीने यद्यपि आपकी तरह नीतिशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया है, इसलिये वह कोई ग्रन्थों या ग्रन्थकारों से रटी-रटाई बात आपसे नहीं कह रही है। किन्तु समय और परिस्थितिके अनुसार अपनी बुद्धिसे उचित सलाह देकर जो आदर्श उसने उपस्थित किया है ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। अतः आपको उसकी बातों पर विचार करना चाहिये ॥ ३ ॥

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।

अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥ ४ ॥

अन्वयः—परिणामसुखे, गरीयसि, क्षतौजसां, व्यथके, अतिवीर्यवति, अल्पीयसि, परिणाम-सुखे, गरीयसि क्षतौजसां, व्यथके, (अल्पीयसि) भेषजे, इव, बहुः गुणः, दृश्यते ॥

पदार्थ—परिणामसुखे = अन्तमें सुख देनेवाली। गरीयसि = महत्त्वपूर्ण। क्षतौजसां = हीनबलवालोंके लिये। व्यथके = खेदजनक। अतिवीर्यवति = अत्यन्तपराक्रमसे भरी। अल्पीयसि = संक्षिप्त। अस्मिन् वचसि = इस (द्रौपदीसे कही गई) वाणीमें। (परिणामसुखे = परिपाक होनेपर सुख देनेवाली। गरीयसि = श्रेष्ठ। क्षतौजसां = क्षीणशक्तिवालोंको, व्यथके = व्यथा बढ़ानेवाली। अल्पीयसि = थोड़ी मात्रामें (भी), अतिवीर्यवति = अत्यन्त गुण करनेवाली) भेषजे इव = औषधि की तरह। बहुः गुणः = बहुत-सा गुण। दृश्यते = दीखता है ॥

घष्ठापथः—अथ ग्राह्यत्वे हेतुमाह—परिणामेति । परिणामः = फलकालः । परिपाका-वस्था च । तत्र सुखे = हिते । ‘शस्तं चाऽथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च’ इति सुखशब्दस्य विशेष्यलिङ्गत्वम् । अतिशयेन गुरुः गरीयः, तस्मिन्] गरीयसि = भूयिष्ठे, श्रेष्ठे च । [क्षतम् ओजो येषां ते, तेषां] क्षतौजसां = उभयत्रापि क्षीणशक्तीनां । व्यथके = युद्धोपोद्रलकत्वाद्भयङ्करे । अन्यत्र = आदौ संशयादिदुःखजनके । [अतिशयेन अल्पम् अल्पीयः, तस्मिन्] अल्पीयसि = अल्पाक्षरे अल्पमात्रे च । उक्तं च—‘स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च’ इति । अस्मिन्वचसि = द्रौपदीवाक्ये । अतिवीर्यवति = अत्यन्तसामर्थ्यवति । भेषजे = औषधे इव । ‘भेषजौषधमैषज्यानी’ त्यमरः । बहुः = अनेकः गुणः = मानत्राण-राज्यलाभादिः, आरोग्यबलपोषादिश्च । दृश्यते । अतो ग्राह्यमस्या वचनमिति भावः ॥ ४ ॥

वाच्यं—परिणामसुखे गरीयसि क्षतौजसां व्यथके अस्मिन् वचसि अतिवीर्यवति अल्पीयसि भेषजे इव बहुं गुणं पश्यामि ।

भावार्थः—यथा स्वल्पमात्रमपि श्रेष्ठं, शक्तिमद् रसायनं परिपाकानन्तरं सुखं ददाति तदेव दुर्बलानामपाचकत्वात् क्लेशदं भवति तथैवेदं द्रौपद्युक्तमपि परिणामहितावहं संक्षिप्तमप्यति-गम्भीरं प्रतीकारासमर्थानां कृते व्यथादायकं वर्तते । तस्मिन् पूर्वोक्ते रसायने यथा बलवीर्या-रोग्यादिप्रचुरो गुणः दृश्यते तथैवास्मिन्नपि वचसि मानरक्षोत्साहवृद्धिराज्यलाभादिरूपो भूयान् गुणः द्रष्टुं शक्यते ॥

भाषार्थः—जिस प्रकार कोई औषधि मात्रामें थोड़ी होनेपर भी परिणाममें सुख देनेवाली श्रेष्ठ और शक्तिशालिनी होनेसे बल वीर्य और आरोग्यादि गुणोंसे संपन्न होती है, किन्तु जो उसे पचा नहीं सकते उन्हें वह और अधिक कष्ट द्रायक प्रतीत होती है । इसी प्रकार द्रौपदीकी उक्ति भी संक्षिप्त सारगर्भित और अन्तमें राज्यलाभादि गुणोंसे युक्त दीख पड़ती है । जो शत्रुका प्रतीकार नहीं कर सकते ऐसे दुर्बलोंको भले ही अच्छी न लगे ॥

विशेषः—इस श्लोकसे भीम द्रौपदीके कथनमें अपनी सहमति प्रकट करते हुए युधिष्ठिरको यह भी सूचित करते हैं कि यदि आपको यह न रुचे तो इसका अर्थ है कि आप दुर्बल हैं और शत्रुओंका सामना कर सकनेकी सामर्थ्य आपमें नहीं है ॥ ४ ॥

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥

अन्वयः—रुचिरार्था, इयं, भारती, इष्टगुणाय, भवते, अपि, रोचताम्, ननु, गुणगृह्याः, विपश्चितः, वचने, वक्तृविशेषनिःस्पृहाः, (भवन्ति) ॥

पदार्थः—रुचिरार्था = सुन्दर अर्थवाली । इयं = यह (द्रौपदीसे कही गई) । भारती = वाणी, इष्टगुणाय = प्रिय हैं गुण जिसको ऐसे । भवते = आपको । अपि = भी । रोचताम् = अच्छी लगे । ननु = क्योंकि । गुणगृह्याः = गुणमात्र ग्रहण करनेवाले । विपश्चितः = विद्वान् । वचने = उक्तिमें । वक्तृविशेषनिःस्पृहाः = बोलनेवाला कौन है इसपर विचार न करनेवाले । (भवन्ति = होते हैं) ॥

घण्टापथः—सत्यमेवं, तथापि मद्यं न रोचते किं करोमीत्यत्राह—इयमिति । [रुचिरः अर्थः यस्याः सा] रुचिरार्था = माहताथसम्पन्नेति रुचिहेतूक्तिः । इयं भारती = द्रौपदीवाक्यम् । [इष्टाः गुणाः यस्यासौ इष्टगुणः, तस्मै] इष्टगुणाय = गुणग्राहिणे इत्यर्थः । भवते = तुभ्यमपि । ‘रुच्यर्थानां प्रीयमाणः’ इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । रोचतां = स्वदताम् । विध्यर्थे लोट् । हित-वचने बलादपीच्छां कुर्यादौषधवदिति भावः । तथापि स्त्रौणे वचसि का श्रद्धा ? तत्राह—नन्विति । गुणानां गृह्या गुणगृह्याः = गुणपक्षपातिन इत्यर्थः । ‘पदास्त्वैरिवाह्यापक्ष्येषु च’ इति ग्रहेः क्यप् । विपश्चितः = विद्वांसः । ‘विद्वान्विपश्चिदोषशः’ इत्यमरः । वचने = विपये । [वक्तृणां विशेषः, तस्मिन्] वक्तृविशेषे = स्त्रीपुंसादिलक्षणे । निःस्पृहा ननु = निरास्थाः खलु । ‘बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्’ इति न्यायादिति भावः ॥ ५ ॥

वाच्यः—रुचिरार्थया अनया भारत्या इष्टगुणाय भवतेऽपि रुच्यताम् । ननु गुणगृह्याः विपश्चिद्भिः वचने वक्तृविशेषनिःस्पृहैः (भूयते) ॥

भावार्थः—रुचिकरार्थपरिपूर्णा इमा द्रौपदीगिरः गुणैकपक्षपातिने भवतेऽपि हर्षभेव जनयन्तु नाम । यतो हि गुणमात्रग्राहिणो भवादृशाः विद्वांसः वक्तृगत-स्त्रीत्वपुंस्त्वबालत्वाद्यन्त-रधर्मविशेषे नास्थां कुर्वन्ति, केवलं तदुक्ते वचने हितकारित्वमेवाद्विद्यन्ते ॥

भाषार्थः—हितकारिणी और सुन्दर अर्थसे पूर्ण यह द्रौपदीकी वाणी, गुणोंमें ही पक्षपात करनेवाले आपको भी अच्छी लगे, क्योंकि गुणग्राही आप जैसे विद्वान्, बोलनेवाला—

बालक है, स्त्री है या कोई विद्वान् है ऐसा विचार नहीं करते, उसके कथनके गुणोंपर ही विचार करते हैं ॥

विशेष—“युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि । अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मयो-
निना” अर्थात् युक्तियुक्त वचन यदि छोटा-सा वच्चा भी कहे तो उसे मान लेना चाहिये और
अयुक्तिपूर्ण वचन तृणकी तरह छोड़ देना चाहिये चाहे वह साक्षात् ब्रह्माका कथन ही क्यों न हो ।
इस नीतिवाक्यके अनुसार “एक स्त्रीका कथन हम कैसे मान लें” यह आप न सोचें, क्योंकि
आप गुणग्राही हैं और गुणग्राही विद्वान् वचनोंका गुण ही देखते हैं । यह भीमका अभिप्राय
है । साथ ही यह भी सूचित किया है कि मैं भी जो कुछ कहने जा रहा हूँ वह भी आपको ग्रहण
करना ही चाहिये । मुझे छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥ ५ ॥

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरुद्धिमागता ।

कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

अन्वयः—नृप !, चतसृषु, अपि, विद्यासु, निरुद्धिम्, आगता, विवेकिनी, ते, मतिः,
विपर्ययम्, एत्य, करिणी, पङ्कम् (एत्य), इव, कथम्, अवसीदति ॥

पदार्थः—नृप ! = हे राजन् । चतसृषु अपि = (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति)
चारों ही । विद्यासु = विद्याओंमें । निरुद्धिम् = प्रसिद्धिको । आगता = प्राप्त हुई । विवेकिनी =
सद्-असद्का विवेचन करनेवाली । ते मतिः = तुम्हारी बुद्धि । विपर्ययं = विपरीतभाव (अविवेक)
को । एत्य = जाकर । करिणी = हस्तिनी । पङ्कम् (एत्य) इव = कीचड़में फँसी जैसी । कथं =
कैसे । अवसीदति = नष्ट हो रही है ॥

घण्टापथः—सम्प्रति स्वयमुपालभते—चतसृष्विति । हे नृप ! चतसृष्वपि विद्यासु =
आन्वीक्षिक्यादिषु । ‘आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । विद्याश्चैताश्चतसस्तु लोक-
संस्थितिहेतवः’ इति कामन्दकः । निरुद्धिमागता = प्रसिद्धि गता । अत एव—विवेकिनी =
सदसदविवेकवती । यथाह मनुः—“आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञान, धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । अर्थानर्थौ तु
वार्तायां, दण्डनीत्यां, नयाऽनयौ ॥” इति । ते मतिः कथं करिणी [= हस्तिनी] पङ्कमिव
[= कर्दममिव] विपर्ययं = वैपरीत्यम् अविवेकरूपम्—एत्य = [प्राप्य], अवसीदति =
नश्यति । तत्र युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

वाच्यं—नृप ! चतसृष्वपि विद्यासु निरुद्धिमागतया विवेकिन्या ते मत्या विपर्ययमेत्य
करिण्या पङ्कमिव (एत्य) कथमवसद्यते ॥

भावार्थः—राजन् ! लोकसंस्थितिहेतुषु आन्वीक्षिक्यादिचतसृषु विद्यासु प्रसिद्धि गता
सदसदविवेकवती च भवतो बुद्धिरविवेकं प्राप्य तथा विनश्यति यथा कापि करिणी कर्दममुपेत्य
नार्शं प्राप्नोति । एतत् कथं जातमिति न शयते ॥

भाषार्थः—हे राजन् संसारकी स्थितिके हेतुभूत आन्वीक्षिक्यादि चारों विद्याओंमें प्रसिद्ध
और अच्छे बुरेको समझनेवाली भी आपकी बुद्धि दलदलमें फँसी हथिनीकी तरह क्यों नष्ट
हो रही है ॥

विशेष—युधिष्ठिरकी बुद्धिकी उपमा करिणीसे देकर भीमने व्यंग्योक्ति की है कि आप भी मोटी बुद्धिके प्रतीत होते हैं। नहीं तो इतने विद्वान् और ज्ञानवान् होनेपर भी इस प्रकार कष्ट क्यों पाते। ऐसी व्यंग्य उक्तियाँ भीमने ही सबसे अधिक प्रयोग की हैं।

विद्याका लक्षण नीतिवाक्यामृतमें इस प्रकार किया है—“यां सम्यग्धिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति सा विद्या” —अर्थात् जिसका अच्छी प्रकार अध्ययन करनेसे मनुष्य अपने हितको समझता है और अहितको छोड़ देता है वही विद्या है। ये विद्यायें चार हैं—१ आन्वीक्षिकी—“अनु पश्चात् ईक्षा प्रयोजनमस्याः सा आन्वीक्षिकी” अर्थात् शास्त्रोंका अध्ययन करनेके पश्चात् सुख दुःख आदिकी तर्कद्वारा समीक्षा करता हुआ उनसे उत्पन्न हर्षशोकादिको जिससे त्याग देता है, वही आन्वीक्षिकी (ब्रह्मविद्या) है। २—“त्रयी” शब्द सामान्यतः ऋक् यजुः सामके लिये ही प्रयुक्त होता है किन्तु विना अङ्ग और उपाङ्गोंके इनका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, अतः वेद, वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), मीमांसा (पूर्व-कर्मकाण्ड और उत्तर-ज्ञानकाण्ड), न्याय, धर्मशास्त्र, पुराणेतिहास, ये सब त्रयीके अन्दर आ जाते हैं। ३—“वर्तते अनया इति वार्ता” वृत्ति (आजीविका) जिससे चलती है वह वार्ता कहलाती है, सामान्यतः इसे अर्थशास्त्र या व्यवहारशास्त्र कहते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, नौकरी आदि सारे व्यवहारोपयोगी विषय इसमें आते हैं। ४—“नीयते अनया इति नीतिः, दण्डस्य नीतिः दण्डनीतिः” वहिरिन्द्रियोंका नियन्त्रण ही दण्ड है। शासनके द्वारा जिस दण्डसे मनुष्योंको कल्याणकी ओर अग्रसर किया जाता है उसे यतानेवाली दण्डनीति है। संक्षेपमें यही विद्याओंका परिचय है ॥ ६ ॥

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।

अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—त्वयि, परैः, इमां, दशां गमिते (सति), सुरैः, अपि, सम्भावितवृत्ति, पौरुषम्, यत्, अवसीदति, अतः, परं, किं विधुरम् ॥

पदार्थ—त्वयि=तुम्हारे। परैः=शत्रुओं द्वारा। इमां=इस। अवगीतां=निन्दनीय। दशां=अवस्थाको। गमिते=पहुँचाये जानेपर। सुरैः अपि=देवताओंसे भी। सम्भावित-वृत्ति=आदरपूर्वक प्रशंसित। पौरुषं=(तुम्हारा) पराक्रम। यत् अवसीदति=जो (इस प्रकार) नष्ट हो रहा है। अतः परम्=इससे अधिक, किं विधुरम्=क्या कष्ट होता है ॥

व्याख्यान—किं नदिच्छन्नमिदानीं येनेत्यमुपालभ्येमहीत्यत्राह—विधुरमिति। त्वयि परैः=शत्रुभिः। इमाम्—ईदृशीम्। अवगीतां=गाह्यताम्। ‘अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गहिंते’ इति विश्वः। दशां गमिते=प्रापिते सति। सुरैरपि [=देवैरपि, सम्भाविता वृत्तियस्य तत्] सम्भावितवृत्ति=बहुकृतप्रसारम्। अथवा निश्चितसद्भावम्। पौरुषं=पुरुषकारः। युवादित्वा-दणप्रत्ययः। अवसीदति=नश्यतीति। यत्, अतः परम्=अतोऽन्यदधिकं। किं विधुरं=किं कष्टम्। न किञ्चिदित्यर्थः। ‘विधुरं प्रत्यवाये स्यात्कष्टविश्लेषयोरपि’ इति बैजयन्ती। अस्तीति शेषः। ‘अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति’ इति भाष्यकारः। भवन्तीति कटः

पूर्वाचार्याणां संज्ञा । यद्वा पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा, ता च शत्रुकृता, तदुपरि महत्कष्टं, तच्च त्वदुपेक्षयेत्युपालभ्यते इत्यर्थः ॥ ७ ॥

वाच्य०—त्वयि परैः श्रमां अवगीतां दशां गमिते सुरैरपि सम्भावितवृत्तिना पौरुषेण यत् अवसद्यते अतः परं केन विधुरेण (भूयते) ॥

भावार्थः—त्वयि शत्रुभिरीदृशीं वनवासादिलक्षणां दुर्दशां प्रापिते सति देवैरपि बहुमतं भवतः पौरुषमेवं न्यायतीति किमतः परं कष्टं भवि तुमर्हति ॥

भाषार्थः—शत्रुओं द्वारा इस निन्दनीय अवस्थामें पहुँचाये जानेपर तुम्हारा वह पुरुषार्थ जिसकी देवता लोग भी प्रशंसा करते हैं, क्षीण हो रहा है । इससे अधिक कष्टकी बात क्या हो सकती है ।

विशेष—भीमसेनके कहनेका अभिप्राय यह है कि यह जो विपत्ति तुमपर आई है वह कोई देवी विपत्ति नहीं है, क्योंकि देवता तो कईबार तुम्हारा पराक्रम देख चुके हैं और उसकी प्रशंसा कर चुके हैं । ऐसे व्यक्तिका इस प्रकार जङ्गलोंमें भटकना ही कष्टकर है, उसपर भी शत्रुओं द्वारा निकाले जाकर इस दशाकी भोगना तो और भी निन्दा का विषय है । तुम चाहो तो शत्रुओं को क्षणभरमें परास्त कर सकते हो, तुम्हें अपने पुरुषार्थको प्रकट करना चाहिये ॥ ७ ॥

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुस्वन्ततरः सुमर्षणः ।

न मनागपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥८॥

अन्वयः—भूतिम्, इच्छता, सुमेधसा, गुरुः अस्वन्ततरः, द्विषताम्, उदयः, सुमर्षणः, महान्, अपि, फलसंपत्प्रवणः, परिक्षयः, न (सुमर्षणः) ॥

पदार्थः—भूति=ऐश्वर्यको । इच्छता=चाहते हुए । सुमेधसा=बुद्धिमान् व्यक्तिके । गुरुः=महान् भी । अस्वन्ततरः=जिसका परिणाम अच्छा न हो ऐसा (अर्थात् विनाशोन्मुख) । द्विषतामुदयः=शत्रुओंका उदय । सुमर्षणः=सुखपूर्वक सहनीय है । (किन्तु) फलसंपत्प्रवणः=अच्छे परिणामकी ओर अग्रसर हुआ । महान् अपि=महान् भी । परिक्षयः=विनाश । न (सुमर्षणः)=उपेक्षणीय नहीं है ॥

घण्टापथः—अधोपेक्षाकालत्वादियमुपेक्षेत्याशङ्क्य—‘नायमुपेक्षाकालः’ इति वक्तुं तदेव तावच्छ्लोकद्वयेन विविनक्ति—द्विषतामिति । भूतिम्=उदयम्, इच्छता । शोभना मेधा यस्य येन—सुमेधसा=सुधिया । ‘नित्यमसिचम्रणामेधसोः’ इत्यसिचप्रत्यक्षः । गुरुः=महानपि [शोभनः अन्तः यस्यासौ स्वन्तः, न स्वन्तः अस्वन्तः अतिशयेन अस्वन्तः] अस्वन्ततरः=अत्यन्तदुरन्तः । क्षयोन्मुख इत्यर्थः । द्विषताम्=[शत्रूणां] उदयः=वृद्धिः । सुखेन मृष्यत इति सुमर्षणः=उपेक्ष्य इत्यर्थः । स्वन्तश्चेद् दुर्मर्षण इति भावः । ‘भाषायां शान्तिं शान्तिः’ इत्यादिना खलर्थे शुचप्रत्ययः । महानपि [फलानाम् सम्पद् फलसम्पद्, फलसम्पदि प्रवणः] फलसंपत्प्रवणः=फलसम्पदुन्मुखः । ‘प्रनिरन्तःशरः’ इत्यादिना णत्वम् । परिक्षयो न सुमर्षणः=नोपेक्ष्य इत्यर्थः । अन्यथा तूपेक्ष्य इति भावः । न ह्युदय एव प्रतीकार्या, न च क्षय इत्येवोपेक्ष्यः, किन्तु स्वन्तत्वा-ऽस्वन्तत्वाभ्यामुभावपि प्रतीकार्यानुपेक्ष्यौ च भवतः इत्यर्थः ॥

वाच्य०—भूतिमिच्छन् सुमेधाः, गुरुम् अस्वन्ततरं, द्विषतां, उदयं, सुमर्षणं (मनुते) महान्तम्, अपि फलसंपत्प्रवणं, परिक्षयं, न ।

भावार्थः—शत्रूणांभ्युदयो परिणामेऽशोभनश्चेत्, स्वकीयैश्वर्यमिच्छता जनेन सोढव्यो भवति, परन्तु तेषां परिक्षयोऽपि परिणामेऽभ्युदयदक्षेत् न कदापि सोढव्यः ॥

भाषार्थ—अपना कल्याण चाहनेवाला बुद्धिमान् व्यक्ति शत्रुकी उस उन्नतिको भी सह लेता है जिसका अन्त बुरा है और उस विनाशको भी नहीं सहता जिससे शत्रु भविष्यमें ऐश्वर्यको प्राप्त करनेवाला हो ।

विशेष—भीमके कहनेका अभिप्राय यह है कि—यदि दुर्योधनका यह उत्कर्ष आगे चलकर उसे नष्ट करनेवाला होता तो इस समय उसको सह लेनेमें भी कोई आपत्ति न होती. किन्तु अब तो उसके ऐश्वर्यकी जड़ जम रही है । भविष्य में उसे नष्ट करना और भी कठिन होगा, अतः आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि बुद्धिमान् लोग शत्रुकी उस विपत्तिकी उपेक्षा नहीं करते जिससे अन्तमें उसका अभ्युदय होनेवाला हो ॥ ८ ॥

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः ।

क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतीकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अन्वयः—कृती, परस्य, क्षययुक्तिम्, अचिरेण, भूयसीं, विगणय्य, आत्मनः च विपरीतां (विगणय्य) उपेक्षते, अन्यथा, तत्प्रतीकारं कुरुते ॥

पदार्थ—कृती = व्यवहार कुशल व्यक्ति । परस्य = शत्रुके । क्षययुक्ति = विनाशके योगको । अचिरेण = शीघ्र होनेवाले (और) भूयसीं = प्रचुर मात्रामें । विगणय्य = समझकर । आत्मनः च = और अपनी (क्षययुक्ति) को । विपरीतां (विगणय्य) = उनके विपरीत (अर्थात् विलम्बमें होनेवाली और (स्वल्प) समझकर । उपेक्षते = उपेक्षा कर देता है । अन्यथा = नहीं तो । तत्प्रतीकारं कुरुते = उसका प्रतीकार करता है ॥

घष्ठापथः—अथोभयोरपि मध्य एकतरस्योदयक्षययोगातिमुक्त्वेदानीं युगपत्परिक्षयागमे गतिमाह—अचिरेणेति । कृतमनेनेति कृती = कुशल इत्यर्थः । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः । परस्य = शत्रोः । [क्षयस्य युक्तिः, ताम्] क्षययुक्ति = क्षययोगम् । अचिरेण = आशुभाविनीं । भूयसीं = दुरन्तां च । तथा—आत्मनः [= स्वस्य] क्षययुक्ति विपरीतां = चिरभाविनीमल्पीयसीं च । विगणय्य = विचार्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । उपेक्षते । अन्यथा = उक्तवैपरीत्ये । परस्य क्षययुक्तावल्पीयस्यां, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थः । तत्प्रतीकारं = तस्याः क्षययुक्तेः । प्रतीकारम् [= निराकरणं] अचिरेण = आशु कुरुते । एवं सति-यदा शत्रोरभ्युदयः, स्वस्य चातिपरिक्षयो, यथाऽऽत्माकं तदा किं वक्तव्यम्?—सद्यः प्रतिकुरुते इत्यर्थात्सिद्धमनुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

वाच्य०—कृतिना परस्य क्षययुक्तिं अचिरेण भूयसीं विगणय्य आत्मनः च विपरीतां [विगणय्य] उपेक्षते । अन्यथा तत्प्रतीकारः कियते ॥

भाषार्थः—शत्रूणां विपुलमाशुभाविनीञ्च हानिं वीक्ष्य स्वस्य च स्वल्पां कालान्तरभाविनीं च मत्वा व्यवहारज्ञः विद्वान् तदुभयमुपेक्षते । अन्यथा यदि विपरीतामर्थात् शत्रोः स्वल्पां चिर-भाविनीं तथा स्वस्य विपुलमाशुभाविनीं च मन्यते चेत् शीघ्रमेव तत्प्रतीकारोपायमारभते ॥

भाषार्थः—यदि शत्रुकी हानि विपुलमात्रामें और शीघ्र होनेवाली हो तथा अपनी हानि थोड़ी मात्रामें चिरकाल बाद होनेवाली हो तो कुशल व्यक्ति उसकी परवाह नहीं करता । किन्तु यदि शत्रुकी थोड़ी-सी क्षति चिरकालमें होती हो और अपनी विपुल क्षति शीघ्र होनेवाली हो तो तत्काल उसके प्रतीकारका उपाय करने लगता है ॥

विशेष—हमारा सारा राज्य चला गया बनकी खाक छान रहे हैं, इसलिये हमारी विपुलक्षति अभी हो रही है और शत्रु दुर्योधनकी कब क्षति होगी कोई निश्चित नहीं, ऐसी स्थितिमें आपको तुरन्त इसका प्रतीकार करना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ ९ ॥

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।

अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥ १० ॥

अन्वयः—उदेष्यतीं, द्विषतां, प्रभुशक्तिम्, अनीहया, अनुपालयतां, महीभुजां श्रियः, जननिर्वादभयाद्, इव, अचिरात्, अपयान्ति ॥

पदार्थः—उदेष्यतीं=बढ़ती हुई । द्विषतां=शत्रुओंकी । प्रभुशक्तिं=प्रभुता (प्रभाव) को । अनीहया=अनुत्साहसे । अनुपालयतां=उपेक्षा करते हुए । महीभुजां=राजाओंकी । श्रियः=सम्पत्तियां । जननिर्वादभयाद् इव=लोकापवादके भयसे जैसे । अचिरात्=शीघ्र ही । अपयान्ति=हट जाती हैं ॥

व्याख्या—तथाऽप्युपेक्षायामनिष्टमाचष्टे—अनुपालयतामिति । उदेष्यतीं=वर्धिष्य-माणाम् । 'आच्छीनयोरुम्' इति विकल्पानुमभावः । द्विषतां [= शत्रूणां, प्रभोः शक्तिः, तां] प्रभुशक्तिं=कोशदण्डजं तेजः । 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । [न ईहा अनीहा, तथा] अनीहया=अनुत्साहेन । अनुपालयताम्=उपेक्षमाणानां । [महीं भुजन्तीति महीभुजः, तेषां] महीभुजां श्रियः=सम्पदः । [जनानां निर्वादः, तस्माद् भयं जननिर्वादभयं, तस्माद्] जननिर्वादभयात्=निकृष्टपुरुषानुरागोत्थलोकापवादभयादिवेति हेतुत्प्रेक्षा । अचिराद् [= शीघ्रमेव] अपयान्ति=अपसरन्ति । यथाह कामन्दकः—'स्त्रीभिः पण्ड इव श्रीभिरलसः परिभूयते' इति । अतः पराक्रमितव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

वाच्यं—उदेष्यतीं द्विषतां प्रभुशक्तिम् अनीहया अनुपालयतां महीभुजां श्रीभिः जननिर्वाद-भयाद् इव अचिरात् अपयायते ॥

भाषार्थः—रिपूणां वर्द्धमानं प्रभावं ये राजानः आलस्योपहृता इवोपेक्षन्ते, तेषां सम्पदः लोकापवादभयादिव तान् परित्यजन्ति ॥

भाषार्थः—शत्रुओंके बढ़ते हुए प्रभावकी जो उपेक्षा कर देते हैं अर्थात् शीघ्र उसका प्रती-कार नहीं करते उन राजाओंकी सम्पत्तियाँ मानो इस ढरसे उन्हें शीघ्र छोड़ देती हैं कि लोग कहेंगे ऐसे कायरके पास रहती है जो उनकी रक्षा नहीं कर सकता ॥

विशेष—स्त्रियाँ जैसे नपुंसक पुरुषको छोड़ देती हैं ऐसे ही लक्ष्मी उस आलसी पुरुषको छोड़ देती हैं जो शत्रुओं की बढ़ती हुई सम्पत्तिको चुपचाप सहन करता रहता है। इसलिये आपको (युधिष्ठिरको) भी दुर्योधनके इस बढ़ते प्रभावको शीघ्र रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये अन्यथा जीवनभर यही दुर्दशा भोगनी पड़ेगी। यह भीमके कथनका तात्पर्य है ॥ १० ॥

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दहतं धाम शिवं समृद्धये ।

प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ १ ॥

अन्वयः—क्षययुक्तम्, अपि, स्वभावजं, शिवं, धाम, दहतं, समृद्धये, उत्थितम्, अनपायं नृपं, प्रजाः (क्षययुक्तमपि, स्वभावजं, शिवं, धाम, दहतं, समृद्धये, उत्थितमनपायं) प्रतिपच्चन्द्रम् इव प्रणमन्ति ॥

पदार्थ—क्षययुक्तमपि = सम्पत्ति आदिसे रहित होनेपर भी। स्वभावजं = स्वाभाविक। शिवं = कल्याणकारक। धाम = तेजको। दहतं = धारण करते हुए। समृद्धये = (पुनः) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये। उत्थितं = उठे हुए। अनपायं = आलस्यादि दोषोंसे रहित। नृपं = राजाको, प्रजाः = प्रजाएँ। (क्षययुक्तमपि = क्षीण होनेपर भी। स्वभावजं शिवं धाम दहतं = स्वाभाविक लोकसुखकारी प्रकाशको धारण करते हुए। (पुनः) समृद्धये = फिर बढ़नेके लिये। उत्थितम् = उदय होनेवाले। अनपायं = मेघ आदि विघ्नोंसे रहित) प्रतिपच्चन्द्रम् इव = द्वितीयाके चन्द्रमाको जैसे। प्रणमन्ति = प्रणाम करते हैं ॥

घृष्टापथः—ननु परिक्षीणः कथं प्रबलेनाभियुज्यते इत्यत्राह—क्षयेति। क्षययुक्तमपि = तथा क्षीणमपि सन्तं। स्वभावजं = सहजं। शिवं = सर्वलोकाद्वादकं। धाम = क्षात्रं तेजः, प्रकाशं च। दहतं। समृद्धये = वृद्धयर्थम्। उत्थितम् = उप्रुक्तम्। अनपायं = वर्धिष्णुमित्यर्थः। नृपं प्रजाः प्रतिपच्चन्द्रं = द्वितीयाचन्द्रमिवेत्यर्थः। प्रतिपच्चन्द्रेण द्वितीयाग्रहणम्। प्रतिपदि तस्यादृष्टत्वात्। प्रणमन्ति = प्रहोभावेन वर्तन्ते इति भावः। चन्द्रं तु नमस्कुर्वन्ति। क्षीणस्याप्युत्साहः कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थः। 'जयं हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते' इति कामन्दकः ॥ ११ ॥

वाच्यं—क्षययुक्तम् अपि स्वभावजं शिवं धाम दहतं, समृद्धये उत्थितः, अनपायः नृपः प्रजाभिः प्रतिपच्चन्द्र इव प्रणम्यते ॥

भावार्थः—सम्पदादिरहितोऽपि राजा यदि स्वाभाविकतेजःसम्पन्नः पुनरपि स्वाभिबृद्धयर्थं विघ्नान्निवारयन् यतते चेत् तदा कलैकमात्रशेषं लोकाद्वादकं प्रकाशवन्तं पुनर्वृद्धये उदीयमानं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजाः तं प्रणमन्ति ॥

भाषार्थ—यदि राजा सम्पदादिसे हीन भी हो गया हो परन्तु लोककल्याणमें तत्पर रहता हो और निरन्तर उत्साहसे पुनरैश्वर्य प्राप्तिके लिए उद्योग करता हो तो प्रजाजन दृजके चाँदकी तरह उसका आदर करते हैं ॥

विशेष—अर्थात् “यद्यपि इस समय तुम्हारे पास कुछ नहीं है फिर भी यदि तुम उद्योग करो तो प्रजा तुम्हारा साथ देगी” यह भीमका अभिप्राय है। “पूर्णकलाक्षयके बाद जब द्वितीया-

को पुनः चन्द्रमा उदय होता है उस समय जो व्यक्ति जैसे प्रणाम करेगा उसके आयुष्य और ऐश्वर्य की वैसे ही वृद्धि होगी जैसे चन्द्रमाकी कलाओंकी होती है” यह गणेशजीता वरदान है ।
वैनाथकी चतुर्थी व्रतकथामें इसका उपाख्यान है ॥ ११ ॥

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः ।

स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोकं इवानुरुध्यते ॥ १२ ॥

अन्वयः—कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयः, नयः, कोशदण्डयोः प्रभवः, खलु, सः, विधेयपदेषु, दक्षतां, लोकः, नियतिम् इव, अनुरुध्यते ॥

पदार्थः—कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयः=किया है सहायादि पाँचों अङ्गोंका अच्छी प्रकार निर्णय जिसमें (ऐसा) । नयः=नीतिशास्त्र (अर्थात् सहायादिका समुचित निर्णय करके किया हुआ विचार) । कोशदण्डयोः=धन और बलरूप सम्पत्तिका । प्रभवः खलु=उत्पादक है । लोकः=लोग । नियतिम् इव=भाग्यको जैसे (प्रतीक्षा करते हैं ऐसे ही) । सः=उपर्युक्त (नय शास्त्र) । विधेयपदेषु=(सन्धिविग्रहादि) कार्योंमें । दक्षतां=कुशलताका । अनुरुध्यते=अनुसरण करता है ॥

घष्पापथः—ननु प्रमुशक्तिशून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यते इत्यत्राह—प्रभव इति । कर्मणा-मारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाह कामन्दकः ‘सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥’ इति ॥ पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयः पञ्चाङ्गविनिर्णयः । ‘तद्विधेयार्थः’ इत्यादिनोत्तरपदसमासः । कृतः पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्तः [कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयः=विहितसहायादिनिर्णयः] नयः=नीतिः । मन्त्र इति यावत् । कोशः=अर्थराशिः । ‘कोशोऽस्त्री कुटुम्बे खड्गपिधानेऽर्थोपदिव्ययोः’ इत्यमरः । दण्डः=चतुरङ्गसैन्यम् । ‘दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लघुङे यमे । यात्राशायां सैन्यभेदे’ इति वैजयन्ती । तयोः कोशदण्डयोः=प्रमुशक्तेरित्यर्थः । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः=कारणम् । ‘ऋदोरप्’ । सः=नयः, [विधेयानि च तानि पदानि, तेषु] विधेयपदेषु=कार्यवस्तुषु । ‘पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु’ इत्यमरः । दक्षतां । क्षिप्रकारित्वम् । उत्साहमित्यर्थः । लोकः=कृष्यादिवृत्तो जनः । नियतिं=दैवमिव । ‘नियतिर्नियमे दैवे’ इति विश्वः । अनुरुध्यते=अनुसरति । रुधेर्देवादिक्वात्कर्तरि लट् । मन्त्रस्यापि मूलमुत्साहस्तन्मूलायाः प्रमुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम्, अतः स एवाश्रयणीयः । यतो नक्तन्दिवं मन्त्रयतस्तस्यापि प्रभोर्निरुत्साहस्य न किञ्चित्सिद्धयतीति ॥ १२ ॥

वाच्यं—कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयेन नयेन कोशदण्डयोः प्रभवेण (भूयते) खलु तेन विधेयपदेषु लोकेन नियतिः इव दक्षता अनुरुध्यते ॥

भावार्थः—सहायादिपञ्चाङ्गानां पूर्वमेव सम्यङ् निर्णयः क्रियते चेत् तदा राज्ञः धनं बलं च वर्द्धते यथा कृषीवलादिदैवमाश्रयते तथैव सोऽपि कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः सन्धिविग्रहादिषु क्षिप्रकारितामनुसरति ॥

भावार्थः—सहायादि पाँचों अङ्गोंका अच्छी प्रकार निर्णय करके की हुई मंत्रणासे ही राजाका धन और बल बढ़ता है। जैसे सामान्य लोग भाग्यका अनुसरण करते हैं ऐसे ही वह पूर्वोक्त मंत्र सन्धि-विग्रहादि कार्योंमें कुशलताका अनुसरण करता है।

विशेषः—“सहायाः साधनोपायाः विभागो देशकालयोः। विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते” ॥ इन पाँच बातोंपर मुख्य रूपसे राजाको विचार कर लेना चाहिये। १—मेरे सहायक कौन हैं। २—मेरे पास शत्रुका सामना करनेके लिये क्या-क्या साधन या उपाय हैं। ३—किस देशमें और किस कालमें अर्थात् किन परिस्थितियोंमें शत्रुसे भिड़ना है। ४—इस युद्धादिमें जो विपत्तियाँ आयेंगी उनका प्रतीकार कैसे होगा? ५—कार्यसिद्धि (विजय) कैसे होगी? इन पाँचों बातोंका अच्छी प्रकार विचार करके जो सन्धि-विग्रहादि किये जाते हैं वे अवश्य उत्साहवर्धक और शुभ फलको देनेवाले होते हैं ॥ १२ ॥

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।

विनिपातनिवर्त्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—अभिमानवतः, प्रियम्, उच्चैः, पदम्, आरुरुक्षतः, मनस्विनः, विनिपातनिवर्त्तनक्षमम्, आत्मपौरुषम्, (एव) आलम्बनं, मतम् ॥

पदार्थः—अभिमानवतः = स्वाभिमानी (और)। प्रियं = अभिलषित। उच्चैः पदं = ऊँचे पदमें। आरुरुक्षतः = चढ़नेकी इच्छावाले। मनस्विनः = धीर पुरुषका। विनिपातनिवर्त्तनक्षमं = पतनको रोकनेमें समर्थ। आत्मपौरुषम् (एव) = अपना पुरुषार्थ ही। आलम्बनं = सहारा। मतम् = कहा गया है ॥

घण्टापथः—ननु सोत्साहस्याऽसहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यब्राह्म—अभिमानवत इति। [अभिमानोऽस्यास्तीति अभिमानवान्, तस्य] अभिमानवतः = मानधनस्य। प्रियम् = इष्टमुच्चैः = उन्नतं, पदं = स्थानं राज्यादिकम् [आरोढुमिच्छन् आरुरुक्षन्, तस्य] आरुरुक्षतः = आरोढुमिच्छतः—प्राप्तुकामस्य। [प्रशस्तमुन्नतं मनोऽस्यास्तीति मनस्वी, तस्य] मनस्विनः = धीरस्य, [पुरुषस्य भावः कर्म वा पौरुषम्] आत्मनः पौरुषम्] आत्मपौरुषं = स्वपुरुषकार एव। [विनिपातस्य निवर्त्तनं विनिपातनिवर्त्तनम्, तस्य क्षमं] विनिपातनिवर्त्तनक्षमम् = अनर्थ-प्रतीकारसमर्थमालम्बनं = सहकारि। मतम् = इष्टम्। यथा कस्यचित्तुङ्गमारोहतः किञ्चित्पतन-प्रतिबन्धकमनुचरहस्तादिकमालम्बनं तद्वदिति ध्वनिः। किं पौरुषादन्यैः सहायैः शूराणामिति भावः ॥ ११३ ॥

वाच्यं—अभिमानवतः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः मनस्विनः विनिपातनिवर्त्तनक्षमेण आत्मपौरुषेण आलम्बनेन (भूयते) ॥

भावार्थः—स्वाभिमानीनः स्वाभिमतमुच्चैः पदमारोढुमिच्छतो मनस्विनः पुरुषस्य स्वपुरुष-कार एवानर्थप्रतीकारसमर्थः सहायभूतो भवति ॥

भावार्थः—स्वाभिमानी और अपने अभीष्ट ऊँचे पदको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनस्वी पुरुषके लिये पतनको रोकनेमें समर्थ अपना पुरुषार्थ ही सहायक माना गया है ॥

विशेष—जैसे कोई व्यक्ति किसी ऊँचे स्थानमें चढ़ना चाहे तो उसे किसीके सहारेकी आवश्यकता होती है वैसे ही राज्यादि ऊँचे पदकी आकांक्षावाले स्वाभिमानी व्यक्तिके लिये अपना पुरुषार्थ ही सबसे बड़ा सहायक होता है इसलिये अपनी पुनः राज्य प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करें, यह तात्पर्य है ॥ १३ ॥

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं, रहयत्यापदुपेतमायतिः ।

नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ १३ ॥

अन्वयः—अविक्रमं, विपदः, अभिभवन्ति, आपदुपेतम्, आयतिः, रहयति, निरायतेः, लघुता, नियता, अगरीयान्, नृपश्रियः, पदं, न (भवति) ॥

पदार्थ—अविक्रमं = पौरुषहीनको । विपदः = आपत्तियाँ । अभिभवन्ति = घेर लेती हैं । आपदुपेतं = आपदोंसे घिरेको । आयतिः = भाग्य । रहयति = छोड़ देता है । निरायतेः = भाग्यहीनका । लघुता = होन होना । नियता = निश्चित है । अगरीयान् = गौरवहीन (व्यक्ति) । नृपश्रियः = राज्यलक्ष्मीका । पदं = (योग्य) स्थान । न (भवति) = नहीं होता ॥

घण्टापथः—पौरुषानन्वीकारे दोषमाह—विपद इति । (नास्ति विक्रमो यस्यासौ अविक्रमस्तम्] अविक्रमं = पौरुषहीनं, विपदः [= आपदः] अभिभवन्ति = आक्रामन्ति [आपद्भिः उपेतः आपदुपेतः, तम्] आपदुपेतं = विपन्नम् । आयतिः = उत्तरकालः । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । रहयति = त्यजति [निर्गता आयतिर्यस्यासौ निरायतिः, तस्य] निरायतेः = आसन्नक्षयस्येत्यर्थः । लघुता = अगौरवं । नियता = अवश्यम्भाविनी । न कश्चिदेनमाद्रियते इत्यर्थः । [अतिशयेन गुरुरगरीयान्, न गरीयान्] अगरीयान् = लघीयान् । [नृपस्य श्रीः नृपश्रीः, तस्याः] नृपश्रियः = राजलक्ष्म्याः, पदम् = आम्पदं—न भवति । यद्वा नृपेति पदच्छेदः । तस्मात्पौरुषं कर्त्तव्यमेवेत्यर्थः । अत्र पूर्वपूर्वस्याऽविक्रमत्वादेरुत्तरोत्तरविपदादिकं प्रति कारणत्वात्कारणमालाख्योऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—'पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला' ॥ १४ ॥

वाच्यं—अविक्रमः विपद्भिः अभिभूयते । आपदुपेतः आयत्या रक्षते । निरायतेः लघुतया नियतया (भूयते) । अगरीयसा नृपश्रियः पदेन न (भूयते) ॥

भावार्थः—अपौरुषो विपद्भिराक्रान्तो भवति, विपन्नश्च भाग्यहीनो भवति, निर्भाग्यस्य हीनताऽवश्यंभाविनी, हीनश्च राज्यश्रियमुपभोक्तुमसमर्थः ॥

भाषार्थ—पौरुषहीन व्यक्तिको आपत्तियाँ घेरती हैं, आपत्तियोंमें पड़ेका भाग्य साथ नहीं देता, भाग्यहीनका गौरव नष्ट हो जाता है और गौरवहीनके पास राज्यलक्ष्मी नहीं आ सकती ।

विशेष—मनुष्य जब पुरुषार्थ नहीं करेगा आलसी होकर रहेगा तो उसपर हर प्रकारकी विपत्तियाँ आना स्वाभाविक है । विपत्ति आनेपर उसकी आयके स्रोत बन्द हो जाते हैं और व्यय बढ़ जाता है । इस प्रकार भाग्य उसका साथ नहीं देता तब उसे दूसरोंकी शरण जाना पड़ता है और हीनवृत्ति अपनानी पड़ती है जिससे उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है । प्रभावहीन

व्यक्ति राजा होनेका अधिकारी नहीं क्योंकि जिसका प्रजापर प्रभाव ही नहीं वह शासन क्या करेगा । इसलिए राजाको सदा पराक्रमशील होना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥ १४ ॥

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तत्, उन्नतेः, प्रतिपक्षं, व्यवसायवन्ध्यताम्, अवलम्ब्य, अलम्, पराक्रमाश्रयाः समृद्धयः, विषादेन, समं, न, निवसन्ति ॥

पदार्थ—तत् = इसलिये । उन्नतेः प्रतिपक्षं = उन्नतिके विरोधी । व्यवसायवन्ध्यतां = उद्योग-शून्यताको । अवलम्ब्य = आश्रयण करनेसे । अलं = पर्याप्त है । पराक्रमाश्रयाः = पराक्रमसे होनेवाली । समृद्धयः = सम्पत्तियाँ । विषादेन समं = अनुत्साहके साथ । न निवसन्ति = नहीं रहती ॥

घण्टापथः—कलितमाह—तदिति । तत् = तस्मात् । उपेक्षायां दोषसम्भवादित्यर्थः । उन्नतेः = अभ्युदयस्य, प्रतिपक्षम् = अन्तरायं, [व्यवसायेन वन्ध्यः व्यवसायवन्ध्यः, व्यवसाय-वन्ध्यस्य भावो व्यवसायवन्ध्यता, तां] व्यवसायवन्ध्यताम् = उद्योगशून्यताम् । अव-लम्ब्याऽलम् = अवलम्बनेनाऽलमित्यर्थः । 'अलंखलोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वा-प्रत्ययः । तस्य ल्यवादेशः । तथा हि = पराक्रमः आश्रयः कारणं यासां तास्तथोक्ताः समृद्धयः = सम्पदः । विषादेन समम् = अनुत्साहेन सह, न निवसन्ति । पौरुषसाध्याः सम्पदो नानुत्साह-साध्याः । उभयोः सहावस्थानविरोधादित्यर्थः । वैधर्म्येण कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५ ॥

वाच्यं—तत् उन्नतेः प्रतिपक्षं व्यवसायवन्ध्यतागवलम्ब्यालम् । पराक्रमाश्रयाभिः समृद्धिभिः विषादेन समं न न्युप्यते ॥

भावार्थः—तत् उन्नत्यवरोधकारिणीं निरुधमशीलतां परित्यजतु भवान् । यतो हि समृद्धयः पराक्रमेण प्राप्तव्या भवन्ति नतु विषादेन ।

भाषार्थ—इसलिये उन्नतिका प्रतिरोध करनेवाले आलस्य या निरुद्योगिताको छोड़ दीजिये । पराक्रमसे होनेवाली सम्पत्तियाँ निरुत्साहके प्राप्त नहीं रह सकतीं ।

विशेष—तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी पौरुषसाध्य होती है निरुद्योगीको नहीं प्राप्त होती, क्योंकि आलस और समृद्धि दोनों एक साथ नहीं रह सकते । इसलिये आप भी अपना पुरुषार्थ दिखाकर राज्य प्राप्त करें । अकर्मण्य होकर पड़े रहनेसे वह नहीं मिलेगा । यह भीमका तात्पर्य है ॥ १५ ॥

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते, कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना ।

धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अथ, अवधिः, प्रतीक्ष्यते, चेत्, आविष्कृतजिह्मवृत्तिना, धृतराष्ट्रसुतेन, नरेन्द्र-सम्पदः, चिरम्, आस्वाद्य, कथं, सुत्यजाः (भविष्यन्ति) ॥

पदार्थ—अथ = यदि । अवधिः = समय (१३ वर्ष) की । प्रतीक्ष्यते चेत् = प्रतीक्षा कर रहे हैं तो । आविष्कृतजिह्मवृत्तिना = प्रकट किया है कपट व्यवहार जिसने, ऐसे । धृतराष्ट्रसुतेन =

धृतराष्ट्रके पुत्र (दुर्योधन) द्वारा । नरेन्द्रसंपदः = राज्यसंपत्तियाँ । चिरं = बहुत काल तक । आस्वाद्य = उपभोग करके । सुत्यजाः = आसानीसे छोड़ने योग्य । कथं (भविष्यन्ति) = कैसे हो जायेगी ॥

घण्टापथः—ननु समयः प्रतीक्ष्यते, किं वेगेनेत्यत्राह—अथेति । अथ अवधिः = कालः, प्रतीक्ष्यते [= परिपाल्यते] चेत् । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्स्मीम्नि काले विलेऽपि च' इति विश्वः । [जिज्ञा चासौ वृत्तिश्च जिज्ञावृत्तिः, आविष्कृता जिज्ञावृत्तिर्येन असौ, तेन] आविष्कृतजिज्ञा-वृत्तिना = प्रकटितकपटव्यवहारेण, [धृतराष्ट्रस्य सुतो धृतराष्ट्रसुतः, तेन] धृतराष्ट्रसुतेन = दुर्योधनेन । [नराणामिन्द्रः नरेन्द्रः, नरेन्द्रस्य सम्पदः] नरेन्द्रसम्पदः = राज्यसम्पदः । नरेन्द्रेति वा पदच्छेदः । चिरं = चतुर्दशवर्षाण्यास्वाद्य = अनुभूय । कथं सुत्यजाः ? ॥ १६ ॥

वाच्यं—अथ अवधिः प्रतीक्षसे चेत् आविष्कृतजिज्ञावृत्तिना धृतराष्ट्रसुतेन चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसंपदः कथं सुत्यजाभिः भूयेत् ॥

भावार्थः—यदि त्रयोदशवर्षात्मकावधिः प्रतीक्षा त्वया क्रियते चेत् येन दुर्योधनेन कपटं कृत्वा यद् राज्यमवाप्तं स तत् चिरं भुक्त्वा सुखेन कथं त्यज्यति ॥

भाषार्थः—यदि तेरह वर्षकी अवधिकी प्रतीक्षा आप कर रहे हों तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधनने जिस राज्य-संपत्तिको प्राप्त करनेमें कपट व्यवहार अपनाया उसे वह आसानीसे कैसे छोड़ देगा ॥

विशेष—यदि सुधिष्ठिर कहें कि हमें तो १३ वर्ष ही बनमें रहना है । फिर तो हमारा राज्य स्वयं ही हमें मिल जायगा । व्यर्थ ही दुर्योधनपर चढ़ाईका उद्योग क्यों करें ? इसीपर भीम कहते हैं—इस आशापर मत रहिये । जिस राज्यसंपत्तिको हथियानेके लिये दुर्योधनने नाना कपट किथे उसका इतने दिनों तक सुख भोगकर वह आसानीसे उसे न छोड़ेगा । आखिर फिर भी आपको उद्योग करना ही पड़ेगा । तबतक राज्यमें उसकी जड़ें दृढ़ हो जायेंगी और उसे उखाड़ना कठिन होगा । अतः शीघ्र उसपर चढ़ाई कर दें ॥ १६ ॥

द्विपता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।

जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥

अन्वयः—अथवा, द्विपता, विहितं, आत्मनः, पदं, यदि, त्वया, लब्धा, हे जननाथ ! तव, अनुजन्मनाम्, आविष्कृतपौरुषैः, भुजैः कृतम् ॥

पदार्थः—अथवा द्विपता = शत्रु द्वारा । विहितं = दिया हुआ । आत्मनः पदं = अपना पद (राज्य) । यदि त्वया लब्धा = यदि तुम्हें मिलेगा भी (तो) ! हे जननाथ = हे नरेन्द्र ! तव = तुम्हारे । अनुजन्मनां = भाइयोंके । आविष्कृतपौरुषैः = पराक्रमको प्रकट करनेवाली । भुजैः = भुजाओंसे । कृतम् = क्या लाभ ? ॥

घण्टापथः—अथवा तदा दैववशात्त्वयमेव सम्पदो दास्यति चेत्तथापि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—द्विपतेति । अथवा द्विपता [= शत्रुणा दुर्योधनेन] विहितं = पुनः प्रत्यापितमात्मनः पदं = राज्यं, त्वया लब्धा = लप्स्यते यदि । लभेः कर्मणि लुट् । [जनानां नाथः, जननाथः

तत्सम्बुद्धौ] हे जननाथ ! तव [अनु = पश्चात्, जन्म येषां ते अनुजन्मानः, तेषां] अनुजन्म-
नाम् = अनुजानाम् [पुरुषस्य भावः कर्म वा पौरुषम्, आविष्कृतं पौरुषं यैः ते—आविष्कृत पौरुषाः,
तैः] आविष्कृतपौरुषैः = प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतम् = अलम् अस्मद्भुजवैफल्यात् । 'क्षत्रियस्य
विजितव्यम्' इति शास्त्रात्क्षेत्रेणैव राज्यं ग्राह्यमिति भावः । 'कृत' मिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु
पठ्यते । 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया
कारणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्देश्ये—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्याऽपि
तु गम्यमानाऽपि' इति ॥ १७ ॥

वाच्य०—अथवा द्विषता विहितमात्मनः पदं यदि त्वं लब्धासे । हे जननाथ ! तव अनु-
जन्मनां आविष्कृतपौरुषाः भुजाः कृतम् ।

भावार्थः—हे राजन् ! यदि दुर्योधनानुग्रहेण पुनस्त्वं स्वकीयं राज्यं लप्स्यसेऽपि चेत्
तथापि शत्रुशतलब्धपरमयशोभिस्तव भ्रातॄणां भुजैः किं कृतम् । व्यर्थमेवैतेषां पराक्रमशालित्वं
भविष्यति ॥

आपार्थ—हे राजन् ! समय वीतनेपर दुर्योधनकी कृपासे अपना राज्य यदि तुम पा भी
लोगे तब भी शत्रुओंको नष्ट करनेमें पुरुषार्थ दिखानेवाली तुम्हारे भाइयोंकी भुजाएँ व्यर्थ
जायँगी ॥

विशेषः—यदि युधिष्ठिर कहें कि आजतक दुर्योधनने कपट भले ही किया हो, किन्तु
भीष्मादिके सम्मुख उसने ११ वर्ष वनवासका जो दांव लगाया था उससे वह मुकर जायगा,
ऐसा तुम कैसे सोच लेते हो ? यदि उसने हमारा राज्य न लौटाया तो हमें भी अपनी प्रतिष्ठा
पूरी करनी ही चाहिये । इसपर भीष्माका यह कथन है कि मान लो यदि अपने ही राज्यको
अपने शत्रुकी कृपासे पा भी लिया तो हमारी इन भुजाओं की पराक्रमशीलताका उपयोग कब
होगा ? ये व्यर्थ जायँगी । अतः समयकी प्रतीक्षा न कर उद्योग कीजिये ।

लब्धा—यह लभ् धातुसे कर्ममें प्रत्यय होनेपर लुट्लकारका रूप है और विहितम्—
विपूर्वक धा धातुसे क्त प्रत्यय होकर बना है ॥ १७ ॥

मदस्तिक्तमुखैर्शुगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतः ।

लघयन्बलु तेजसा जगत् महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

अन्वयः—मृगाधिपः, मदस्तिक्तमुखैः, स्वयं हतैः, करिभिः वर्तयते, तेजसा, जगत्, लघयन्,
महान्, अन्यतः, भूतिं न, इच्छति, खलु ॥

पदार्थः—मृगाधिपः = सिंह । मदस्तिक्तमुखैः = मदजलसे गीले हैं मुख जिनके ऐसे (और) ।
स्वयं हतैः = अपने द्वारा मारे हुये । करिभिः = हाथियोंसे ही । वर्तयते = आहार करता है ।
तेजसा = पराक्रमसे । जगत् = संसारको । लघयन् = तिरस्कृत करता हुआ । महान् = महा-
पुरुष । अन्यतः = दूसरेसे । भूतिं = देशवर्यको । न इच्छति खलु = नहीं चाहता है ॥

घण्टापथः—ननु साम्ना कार्यसिद्धौ किं क्षात्रेण ? यथाह मनुः = 'साम्ना दानेन
वेदेन समस्तीरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेताऽरीन् युद्धेन कदाचन ॥' इति ॥ तत्किमाग्रहेणे-

त्थाशङ्क्याह—मदेति । [मृगाणामधिपो] मृगाधिपः=सिंहो [मदेन सिक्तं मदसिक्तं, मदसिक्तं मुखं येषां ते—मदसिक्तमुखाः, तैः] मदसिक्तमुखैः=मदवर्षिभिरित्यर्थः । स्वर्थं=स्वेनैव । हतैः करिभिः [=गजैः] वर्तयते=वृत्तिं करोति । तैरेव जीवतीत्यर्थः । चौरादिकाद् वृत्तेर्लङ् । भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तत्कर्तृकात्' इति परस्मैपद-नियमादिति । तथाहि—तेजसा=प्रभावेण । 'तेजो बले प्रभावे च ज्योतिष्यन्निधि रेतसि' इति वैजयन्ती । जगत् लघयन् ॥ लघूकुर्वन् [मल्लते इति] महान्=तेजस्वी, अन्यतः=अन्यस्मा-त्पुरुषात्, भूतिं=वृद्धिं=नेच्छति=खलु । नापि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम् । मनुवचनं, त्वशूरविषयमिति भावः । विशेषेण वक्ष्यमाणसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । १८ ।

वाच्य०—मृगाधिपेन स्वयं हतैः मदसिक्तमुखैः करिभिः वर्तयते । तेजसा जगत् लघयता महता अन्यतः भूतिः न इष्यते ।

आवार्थः—सिंहोऽपि स्वयं हतैरेव करिभिः क्षुधां निवर्तयति । यतो हि स्वतेजसा जगल्ल-घयन् महापुरुषः परत ऐश्वर्यं न वाञ्छति ।

भाषार्थ—सिंहभी अपने हाथसे मारे हुये मन्दोन्मत्त हाथियोंसे ही अपनी भूख मिटाता है, क्योंकि अपने तेजसे संसारको अभिभूत करता हुआ महान् व्यक्ति दूसरोंके दिये ऐश्वर्यको नहीं चाहता ।

विशेष—पशु होनेपर भी सिंहको अपनी महत्ताका ज्ञान है और वह उन्हीं हाथियोंको मक्षण करता है जिन्हें स्वयं मारता है । आप तो मनुष्य है । कोई भी ऐसा महापुरुष जो जगत्को अपने पराक्रमसे अभिभूत कर सकता हो, दूसरोंसे प्राप्त ऐश्वर्यको कैसे चाहेगा । अतः दुर्योधनने यदि हमारा राज्य लौटा भी दिया तो वह हमारे लिये लज्जास्पद ही है । यह भीमका तात्पर्य है । १८ ।

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्तु यशश्चिचीषतः ।

अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अभिमानधनस्य, गत्वरैः, असुभिः, स्थास्तु, यशः, चिचीषतः, अचिरांशुविलास-चञ्चला, लक्ष्मीः, आनुषङ्गिकं, फलं ननु ।

पदार्थ—अभिमानधनस्य=अभिमानको ही मुख्य धन माननेवाले (और) । गत्वरैः=गमनशील । असुभिः=प्राणोंसे, स्थास्तु=चिरस्थायी, यशः=यशको, चिचीषतः=इकट्ठा करनेवाले (पुरुषके लिये) । अचिरांशुविलासचञ्चला=विद्युतकी चमकके समान चञ्चल लक्ष्मीः=संपत्ति । आनुषङ्गिकं=गौण (अनायास मिलनेवाला), फलं=फल है ॥

वष्टापथः—अभिमानेति । [अभिमान एवं धनं यस्याऽतौ अभिमानधनः तस्य अभिमानधनस्य = गैरनिर्वातनमात्रनिष्ठस्य अत एव—गत्वरैः=गमनशीलैरस्थिरैः । 'गत्वरश्च' इति क्वरन्तो निपातः । असुभिः=प्राणैः=करणैः । 'पुंसि भूम्यसवः प्राणाः' इत्यमरः । स्थास्तु=स्थिरम् 'ग्लानिस्थश्च रस्तुः' इति रस्तुप्रत्ययः । यशश्चिचीषतः=चेतुं संग्रहीतुमिच्छतः । चिनोतेः सन्नन्ताच्छतुप्रत्ययः । अचिरमंशवो यस्याः सा—अचिरांशुः=विद्युत्, तस्या विलासा=

स्फुरणं तदच्चञ्चला = क्षणिकेत्यर्थः । लक्ष्मीः = सम्पत्, अनुपज्ञादागतमानुषद्विक्रम-अन्वाचयशिष्ट-मल्पं फलम् । मानत्राणजं यश एव मुख्यं फलमभ्युच्चयस्तु लक्ष्मीरिति मानिनामिदमेव श्लान्य-मित्यर्थः । अत्राऽस्थिरप्राणत्यागेन स्थिरवशःस्वीकाराभिधानान्म्यूनाधिकविनिमयाख्यः परिवृत्त्य-लङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—‘परिवृत्तिविनिमयो योऽर्थानां स्वात्समासमैः’ इति ॥ १९ ॥

वाच्य०—अभिमानधनस्य गत्वरैः असुभिः स्थास्तु यशश्चिपतः अचिरांशुविलास-चञ्चलया लक्ष्म्या आनुपक्षिकेण फलेन भूयते ॥

भावार्थः—स्वाभिमानिनः नश्वरैः प्राणैः स्थिरं यशोऽर्जितुकामस्य पुरुषस्य कृते विद्युच्चला लक्ष्मीः तु गौणफलरूपा भवति अर्थात् लक्ष्मीः प्राप्येत न वा तत्कृते वश आवश्यकं वस्तु ॥

भाषार्थ—स्वाभिमानी और अवश्य नाश होनेवाले प्राणोंसे स्थायी यश अर्जित करनेवाले व्यक्तिके लिये लक्ष्मी तो आनुषङ्गिक फल है । अर्थात् लक्ष्मी मिले चाहे न मिले वह यश तो अवश्य चाहता है ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी यदि मिल भी गई तो वह स्वभावतः विजलीकी तरह चञ्चल होनेसे कुछ ही दिन ठहरेगी अतः स्वाभिमानी व्यक्ति उसकी परवाह नहीं करता । किन्तु यश तो मरनेके बाद भी स्थायी रहता है, इसलिये उसे अर्जित करनेके लिये वह प्राणोंकी भी परवाह नहीं करता, क्योंकि प्राण भी तो एक न एक दिन नष्ट होंगे ही ॥ १९ ॥

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयभास्कन्दति भस्मनां जनः ।

अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्जन्ति न धाम मानिनः ॥ २० ॥

अन्वयः—जनः, भस्मनां, चयम्, आस्कन्दति, ज्वलितं हिरण्यरेतसं, न, अतः, मानिनः, अभिभूतिभयात्, असून, सुखम्, उज्जन्ति, धाम, न ॥

पदार्थ—जनः = लोग । भस्मनां चयं = राखके ढेरको । आस्कन्दति = लांघ जाते हैं । ज्वलितं = जलते हुए, हिरण्यरेतसं = अग्निको । न (आस्कन्दति) = नहीं लांघते, अतः इसलिये, मानिनः = स्वाभिमानी लोग । अभिभूतिभयात् = पराभवकी शङ्कासे । असून = प्राणोंको । सुखं = सुखपूर्वक । उज्जन्ति = छोड़ देते हैं । धाम = तेज को । न (उज्जन्ति) = नहीं छोड़ते ॥

घण्टापथः—नन्वल्पस्य मानस्य हेतोः कथं प्राणत्यागः शक्यते कर्तुम्, यतः ‘जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्’ इत्याशङ्क्याह—ज्वलितमिति । जनो भस्मनां चयं = पुज्यमास्कन्दति = पादादिनाऽऽक्रामति । अदाहकत्वादिति भावः । ज्वलितं = ज्वलन्तम् । कर्तरि क्तः । ‘मतिबुद्धि-’ इत्यादिसूत्रे चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । हिरण्यं रेतो यस्य तं—हिरण्यरेतसम् = अग्नि नास्कन्दति । दाहकत्वादिति भावः । अतो हेतोर्मानिनोः [अभिभूतेभ्यम् अभिभूतिभयम्, तस्माद्] अभि-भूतिभयात्—‘प्राणलोभेन तेजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयादसूनेव सुखमक्लिष्टमुज्जन्ति । मानहानिकराजीवनात्स्वतेजसा मरणमेव वरमित्यर्थः । पूर्वतरल्लोकवदर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

वाच्य०—जनेन भस्मनां चयः आस्कन्दते, ज्वलितः हिरण्यरेताः न, अतः मानिभिः अभि-भूतिभयात् असवः सुखम् उज्ज्यन्ते, धाम न उज्ज्यते ॥

भावार्थः—जनाः भस्मपुञ्जं यथा पद्भ्यामाक्रामन्ति तथा न ज्वलितं वह्निमाक्रामन्ति, एवमेव निरभिमानं यथा तिरस्कुर्वन्ति तथा न स्वाभिमानिनमिति दृष्ट्वा पराभवशक्त्या मानिनः प्राणान् सुखेन त्यक्तुं वाञ्छन्ति न तु प्रतापम् ॥

भाषार्थः—लोग भस्मके ढेरको आसानीसे लॉघ जाते हैं, जलती आगको नहीं। इसीसे स्वाभिमानी व्यक्ति, प्राणोंका लोभ करके प्रतापका त्याग करनेसे पराभव होगा—इस शंकासे प्राणोंको सुखपूर्वक छोड़नेको तत्पर होते हैं प्रतापको नहीं ॥

विशेषः—आप शान्त होकर बैठे हैं इसीलिये आपका यह तिरस्कार हो रहा है। यदि अपने प्रतापको प्रकट करें तो सब आपसे डरने लगेंगे। यह भीमका अभिप्राय है ॥ २० ॥

किसपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते शृगाधिपः ।

प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

अन्वयः—शृगाधिपः, किं, फलम्, अपेक्ष्य, ध्वनतः, पयोधरान्, प्रार्थयते, सा, महीयसः प्रकृतिः, खलु, यया, अन्यसमुन्नतिं, न सहते ॥

पदार्थः—शृगाधिपः = सिंहः । किं फलम् = किस प्रयोजनको । अपेक्ष्य = चाहकर । ध्वनतः = गरजते हुए । पयोधरान् = मेघोंको । प्रार्थयते = ललकारता है । सा = वह (तो) । महीयसः = महान् (व्यक्ति) का । प्रकृतिः खलु = स्वभाव ही होता है । यया = जिस (प्रकृति) से (वह) । अन्यसमुन्नतिं = दूसरोंके उत्कर्षको । न सहते = नहीं सह सकता ॥

घण्टापथः—अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तया, किन्तु तेजस्विनामयं स्वभाव एव यस्मिन्निगुप्त-मित्याशयेनाह—किमिति । [शृगाणामधिपः] शृगाधिपः—सिंहः । किं फलं = प्रयोजनमपेक्ष्य, ध्वनतः = गर्जतः । धरन्तीति धराः । पचावच् । पयसां धरास्तान्पयोधरान् = मेघान्प्रार्थयते = अभियाति । 'याच्चायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । यद्वाऽवर्णदीप्त्यर्थः । प्रार्थयते । 'प्रा स्थायाच्चावरोधयोः' इत्यभिधानाद् । प्रा-अवरोधेन । प्रा इति तृतीयान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागाद् 'आतो धातोः' इत्यालोपः । तथापि—महीयसो = महत्तरस्य, सा प्रकृतिः [= स्वभावः] खलु यया = प्रकृत्या [अन्यस्य समुन्नतिः—अन्यसमुन्नतिः] तां] अन्यसमुन्नतिं = परवृद्धिं न सहते । महतः परमअनुमेव पुरुषार्थ इत्यर्थः । पूर्ववदलंकारः ॥ २१ ॥

वाच्यः—शृगाधिपेन किं फलमपेक्ष्य ध्वनन्तः पयोधराः प्रार्थयन्ते, महीयसः तया प्रकृत्या भूयते यया अन्यसमुन्नतिर्न सहते ॥

भावार्थः—सिंहः केन प्रयोजनेन गर्जतो मेघानभियाति, एषा तु महात्मनां प्रकृतिरेव भवति यया ते नान्यसमुत्कर्षं सोढुं पारयन्ति ॥

भाषार्थः—शृगेन्द्र भला किसलिये गरजते मेघोंको दहाड़ता है। वह तो महान् लोगोंका स्वभाव ही होता है जिससे वे अपने रहते दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते ॥

विशेषः—बादलोंकी गर्जनां सुनकर सिंह दहाड़ उठता है, यह प्रसिद्धि है। वह सोचता है कोई मुझे ललकार रहा है। इसी उदाहरणकी भीम युधिष्ठिरके सामने रखते हैं। दूसरेके उत्कर्षको न सहनेका तात्पर्य यह नहीं कि उसे देखकर ईर्ष्यावश जला-मुना रहता है, प्रत्युत

उससे स्पर्द्धा करता है अर्थात् अपने उत्कर्षको उससे बढ़ानेका उद्योग करता है । यह प्रत्येक महान् व्यक्तिका स्वभाव है ॥ २१ ॥

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय रजः प्रमादजम् ।

ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे नृप ! तत् प्रमादजं, तमः, निर्धूय, विक्रमे, एव, मतिं, कुरु, विद्विषां, विपत्तयः, त्वदनुत्साहहताः, एतद्, ध्रुवम्, अवेहि ॥

पदार्थ—हे नृप = हे राजन्, तत् = इसलिये । प्रमादजं = असावधानीसे उत्पन्न । तमः = अज्ञानको । निर्धूय = हटाकर । विक्रमे एव = पराक्रममें ही । मतिं कुरु = बुद्धिको लगाओ । विद्विषां विपत्तयः = शत्रुओंकी विपदाएँ । त्वदनुत्साहहताः = तुम्हारे अनुत्साहके कारण रुकी हैं । एतद् ध्रुवम् अवेहि = यह निश्चित समझो ॥

घण्टापथः—निगमयति—कुरु तदिति । हे नृप ! तत् = तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः । 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । [प्रमादाज्जायते इति प्रमादजं, तत्] प्रमादजं तमः = मोहं । निर्धूय = निरस्य । विक्रमे = पौरुषे एव मतिं कुरु । विक्रममेवाङ्गीकुरु न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रमवैफल्यशङ्का कार्येत्याह—ध्रुवमिति । विद्विषां [शत्रूणां] विपत्तयः [= आपदः] [न उत्साहः = अनुत्साहः, तव अनुत्साहः, त्वदनुत्साहः, त्वदनुत्साहेन हताः] त्वदनुत्साहहताः—तवानुत्साहेन = अव्यवसायेन हताः = प्रतिबद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद् ध्रुवं = निश्चितमवेहि = विद्धि । 'ध्रुवं नित्ये निश्चिते च' इति शाश्वतः ॥ २२ ॥

वाच्य०—नृप तत् प्रमादजं तमः निर्धूय विक्रमे एव मतिः क्रियताम् विद्विषां विपत्तिभिः त्वदनुत्साहहताभिः 'भूयते' एतद् (त्वया) ध्रुवम् अवेयताम् ॥

भावार्थः—हे राजन् अनवधानताजन्यमज्ञानं विहाय पराक्रमे मतिः संयोज्यताम् । त्वदनुत्साहेन कारणेन शत्रवोऽद्यावधि सुखं तिष्ठन्ति, अन्यथा पूर्वमेव विपद्यस्ता अभविष्यन्निति निश्चितं जानीहि ॥

भाषार्थ—हे राजन् आलस्य और अनवधानतासे उत्पन्न अविवेकको त्यागकर पराक्रममें बुद्धि लगाइये । आपके अनुत्साहके कारण ही आजतक शत्रुओंपर विपत्ति न आ सकी, यह निश्चित समझें ॥ २३ ॥

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवाऽऽयतः ।

प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विपतां कः शतमन्युतेजसः ॥ २३ ॥

अन्वयः—दिग्विभावितान्, चतुरः, द्विरदान्, इव, (चतुरः) तोयनिधीन्, इव, रणे, आयतः शतमन्युतेजसः, तव, अनुजान्, द्विपतां, कः, प्रसहेत ॥

पदार्थ—दिग्विभावितान् = दिशाओंमें विख्यात । चतुरः = चार । द्विरदान् इव = दिग्गजों जैसे, (अथवा चार) तोयनिधीन् इव = समुद्रों जैसे । रणे = युद्धमें । आयतः = आते

हुए । शतमन्युतेजसः = इन्द्रतुल्यपराक्रमी । तव अनुजान् = तुम्हारे (चार) भाइयोंको । द्विषतां (मध्ये) = शत्रुओंमेंसे । कः प्रसहेत = कौन सह सकता है ॥

घण्टापथः—न च नः पराजयशङ्का कार्येत्याह—द्विरदानिति । [दिक्षु विभाविताः, तान्] दिग्विभावितान् = दिक्षु प्रसिद्धास्तान् आयतः = [आगच्छतः] आङ्पूर्वादिण्धातोः शत्रुप्रत्ययः । चतुरो द्विरदान् = दिग्गजानिव, तथोक्तविशेषणाश्चतुरः [तोयानां निधयस्तोयनिधयः, तान्] तोयनिधीनिव, रणे आयतो दिग्विभावितान् [शतं मन्यवो यस्याऽसौ शतमन्युः, शतमन्योस्तेज इव तेजो येषां ते—शतमन्युतेजसः, तान्] शतमन्युतेजसः = इन्द्रविक्रमांश्चतुरस्तवानुजान्द्विषतां मध्ये कः प्रसहेत ? = सोढुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शक्ति लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । अतो निःशङ्कं प्रवर्तस्वेति भावः ॥ २३ ॥

वाच्यं—दिग्द्विभाविताः चत्वारः द्विरदा इव, तोयनिधय इव रणे आयन्तः शतमन्युतेजसः तवानुजाः द्विषतां केन प्रसहेरन् ॥

भावार्थः—आकारेण चतुरो दिग्गजानिवागाधतया च चतुरस्तोयनिधीनिव रणे सन्न-
द्धानिन्द्रतुल्यपराक्रमान् ते चतुरो भ्रातृन् जेतुं शत्रुपक्षे कः समर्थः ? न कोऽपीति भावः ॥

भाषार्थः—आकारमें चार दिग्गजों जैसे और गम्भीरतामें चार समुद्रोंकी तरह, इन्द्रतुल्य पराक्रमी, युद्धके लिये आते हुए तुम्हारे चारों भाइयोंको शत्रुपक्षमें कौन ऐसा है जो सह सके ॥

विशेष—यदि युधिष्ठिरको यह शंका हो कि शत्रुओंपर आक्रमण करके हम न जीते तो क्या होगा ? हम जीत ही जायेंगे यह कैसे विश्वास किया जाय ? इसीपर भीम विश्वास दिलते हैं कि आकार और पराक्रम दोनोंमें आपके भाइयोंकी बराबरी करनेवाला शत्रुपक्षमें कोई है ही नहीं । अतः निश्चिन्त होकर युद्धकी तैयारीमें जुट जाइये ॥ २३ ॥

ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिभूतस्य चेतसि ।

विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—तव, चेतसि, सततं, ज्वलतः, वैरिभूतस्य, जातवेदसः, शिवेतरा, रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः, शमं, विदधातु ।

पदार्थः—तव चेतसि = तुम्हारे चित्तमें । सततं = निरन्तर । ज्वलतः = जलते हुए । वैरिभूतस्य = शत्रुओं द्वारा सुलगाये गये । जातवेदसः = अग्निको । शिवेतरा = (वैधव्य दुःख-सूचक होनेसे) अमङ्गल । रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः = शत्रुपत्नियोंके आँसुओंका प्रवाह । शमं विदधातु = शान्त करे ॥

घण्टापथः—आशीर्वादव्याजेन फलितमाह—ज्वलत इति । तव चेतसि [= मनसि] सततं ज्वलतः [= निरन्तरं समिद्धस्य] [वैरिभिः कृतः वैरिभूतः, तस्य] वैरिभूतस्य जातवेदसः क्रोधाग्नेरित्यर्थः [शिवात्—इतरा] शिवेतरा = अशिवाऽमङ्गला । वैधव्यदुःखजनकत्वादिति भावः । [नयनानाम्बुनि, नयनान्बुनां सन्ततिः नयनान्बुसन्ततिः । रिपूणां नार्यः रिपुनार्यः, रिपुनारीणां नयनान्बुसन्ततिः] रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः = वैरिवनिताऽश्रुप्रवाहः । शमं [= शान्ति] विदधातु [= करोतु] । वैरिभूतस्य क्रोधस्य वैरिविधमन्तरेण शान्त्यसम्भावदवश्यं तद्वधस्तद्व्याकर्तव्य इत्यर्थः । क्रोधस्य विषयस्य निगरणेन विषयिणी जातवेदस एवोपनिबन्धादिति-

शयोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—‘विषयस्यानुपादानाद्विषयुपनिबध्यते । तत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कावेः प्रोदोक्तिजीविता ॥’ इति तत्रापि क्रोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाध्यवसायान्नेदेऽभेदरूपा । तत एवानुनिर्वाप्यत्वोक्तिश्च घटते । तथा च यथाऽन्दुसेकेनाग्निः शान्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध इत्यौपम्यं गम्यते ॥ २४ ॥

वाच्यं—तव चेतसि सततं ज्वलतः वैरिहृतस्य जातवेदसः शिवेतरया रिपुनारीनयनान्धु-
सन्तत्या शमः विधीयताम् ॥

भावार्थः—शत्रुभिः कृतैरपकारैर्भवदधृदये निरन्तरं जाज्वल्यमानं क्रोधाग्निं, शत्रुवधात्
विषवानां तत्पत्नीनां निरन्तरनिर्गताश्रुप्रवाहः शमयतु ॥

भाषार्थ—शत्रुओंके अपकारोंके कारण निरन्तर जलती हुई तुम्हारे चित्तकी क्रोधाग्नि
तुम्हारे द्वारा मारे गये शत्रुओंकी विषवा पत्नियोंके निरन्तर बहते हुए आसुओंकी धारसे बुझाई जावे ।

विशेष—अर्थात् जिन शत्रुओंके अपकारोसे आपके हृदयमें निरन्तर क्रोध रूप अग्नि
उदीप्त रहती है उन्हें नष्ट कर दीजिये यह तात्पर्य है ।

जब उक्त हर्ष या शोकसे चित्त अत्यन्त द्रवित होता है तब आँसू निकलते हैं । आनन्दा-
तिरेकसे निकले हुए आँसू मङ्गलकारक होते हैं । यहाँ ‘शिवेतरा’ अर्थात् ‘अक्रल्याणकारक’ यह
विशेषण दिया है जिसका अर्थ है कि आँसू तो शत्रुपत्नियोंको उत्कृष्टोन्नतिपर भी आ सकते हैं पर
ये आँसू ऐसे नहीं, वैधव्यका जो अत्यन्त शोक, उससे धाराप्रवाह निकलते हुए ये आपके हृदयकी
जलन मिटाये । इस प्रकार अपने कथनका उपसंहार करते हुए भीमसेन युधिष्ठिरके लिये शुभ
कामना प्रकट कर रहे हैं ॥ २४ ॥

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम् ।

उपसान्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥

अन्वयः—इति दर्शितविक्रियं, कोपपरीतमानसं, मरुतः सुतं, महीपतिः, (दर्शितविक्रियं,
कोपपरीतमानसं) दुष्टं, द्विरदम्, इव, उपसान्वयितुम्, उपचक्रमे ॥

पदार्थ—इति=इस प्रकार । दर्शितविक्रियं=प्रकट कर दिया है मनका विकार (शोभ)
जिसने । (और) कोपपरीतमानसं=क्रोधसे भरा है चित्त जिसका (ऐसे) । मरुतः सुतं=वायु-
पुत्र (भीमसेन) को । महीपतिः=राजा (युधिष्ठिर) । (दर्शितविक्रियं=दिखाई है विक्रिया=
उद्धतता जिसने ऐसे और) कोपपरीतमानसं=क्रुद्ध हुए, दुष्टं द्विरदमिव=उन्मत्त हाथीको जैसे ।
उपसान्वयितुं=शान्त करनेके लिये, उपचक्रमे=प्रवृत्तं हुए ॥

घण्टापथः—इतीति । इति=उक्तरीत्या । दर्शिता [=प्रकटिता] विक्रिया=
विकारो वागारम्भात्मको येन तं [कोपेन परीतं कोपपरीतं, कोपपरीतम् मानसं यस्यासौ कोप-
परीतमानसः, तं-] कोपपरीतमानसं=कोपाक्रान्तचित्तम् । इदं विशेषणद्वयं द्विरदेऽपि योज्यम् ।
मरुतः सुतं=भीम । [नद्याः पतिः] महीपतिः=युधिष्ठिरौ दुष्टं द्विरदमिव । एतेन भीमस्य
शौर्यमेव न बुद्धिरस्तीति गम्यते । उपसान्वयितुं=अनुनेतुमुपचक्रमे=प्रवृत्तः । ‘प्रोपाभ्यां

समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम् । राजा तावदुपकारविशेषापेक्षया कथञ्चिदवशो जनः शनैः शनैर्द्विरद-
वदशीकरणीयो न तु त्याज्य इति भावः ॥ २५ ॥

वाच्य०—इति दर्शितविक्रियं कोपपरीतमानसं मरुतः सुतम् दुष्टं द्विरदमिव उपसान्त्वयितुं
महीपतिना उपचक्रमे ॥

भावार्थः—यथा कृतोत्पातं सकोपं च मदोन्मत्तं गजमनुनेतुं महामात्रः प्रवर्तते तथैव
वागारम्भेण प्रकटितमनःश्लोभं कोपाक्रान्तचित्तं च भीममनुनेतुं युधिष्ठिरः प्रवृत्तोऽभवत् ॥

भाषार्थः—जैसे कोई महावत उत्पात करते हुए क्रुद्ध हाथीको शान्त करनेका प्रयत्न
करता है वैसे ही कटूक्तियों द्वारा अपने मनःश्लोभको प्रकट करते हुए क्रोधाक्रान्त चित्तवाले भीम-
सेनको शान्त करनेके लिये युधिष्ठिर प्रवृत्त हुए ॥ २५ ॥

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे ।

विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥

अन्वयः—अपवर्जितविप्लवे, शुचौ, हृदयग्राहिणि, मङ्गलास्पदे, गिरां, विस्तरे, तव, मतिः
(अपवर्जितविप्लवे, शुचौ, हृदयग्राहिणि, मङ्गलास्पदे) आदर्श, इव, अभिदृश्यते ॥

पदार्थः—अपवर्जितविप्लवे = दूर कर दी है युक्ति-शून्यता जिससे (अर्थात् प्रामाणिक और
युक्तियुक्त) । शुचौ = शुद्ध (व्याकरणादिको अशुद्धियोंसे रहित) । हृदयग्राहिणि = मनोरम । मङ्ग-
लास्पदे = कल्याणकारी । गिरां विस्तरे = (तुम्हारी) इस वाणीके विस्तारमें (अर्थात् तुम्हारे इस
कथनमें) । तव मतिः = तुम्हारी बुद्धि । (अपवर्जितविप्लवे = बाहरकी मैल जिसमेंसे हटा दी है
ऐसे, शुचौ = स्वच्छ, हृदयग्राहिणि = प्रतिबिम्बको अच्छी प्रकार ग्रहण करनेवाले, मङ्गलास्पदे =
(माङ्गलिक पदार्थ होनेसे) श्रेयस्कर, आदर्श इव = दर्पणमें जैसे, विमला = विशद् (निर्दोष) ।
अभिदृश्यते = दीख रही है ॥

घण्टापथः—प्रथमं तावत्स्तुत्यादिभिः प्रसादयति—अपवर्जितेति । विप्लवः प्रमाण-
बाधः । अन्यत्र—बाह्यमलसंक्रमः । सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन्नापवर्जितविप्लवे । शुचौ [= पवित्रे]
सौशब्ध्यं लोहशुद्धिश्च शुचित्वं, तद्वतीत्यर्थः । अत एव [हृदयं गृह्णाति तच्छीलः हृदयग्राही,
तस्मिन्] हृदयग्राहिणि मनोरमे । [मङ्गलस्य आस्पदं मङ्गलास्पदं, तस्मिन्] मङ्गलास्पदे
एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गलवस्तुत्वाच्च श्रेयस्करे । 'रोचनं चन्दनं हेमं मृदङ्गं दर्पणं
मणिम् । गुरुर्नग्नं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः ॥' इति पुराणवचनात् । तव गिरां विस्तरे =
वाक्प्रपञ्चे । 'प्रथमे वावशब्दे' इति घञ्प्रतिषेधात् 'ऋदोरप्' इत्यप् । अत एव 'विस्तारो विग्रहो
व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । मतिः = त्वद्बुद्धिः । आदर्श—दर्पण इव । 'दर्पणे मुकु-
रादर्श' इत्यमरः । विमला = विशदाऽभिदृश्यते [= उपलक्ष्यते] । वाग्वैश्यादेव मतिवैश्या-
मनुमीयते तत्पूर्वकत्वात्तत्स्येत्यर्थः ॥ २६ ॥

वाच्य०—अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे गिरां विस्तरे तव मतिं आदर्श
इव विमलाम् अभिपश्यामि ॥

भावार्थः—सप्रमाणे, निर्दोषे, हृद्ये, श्रेयस्करे च तव वाक्प्रपञ्चे तव मतिः स्वच्छे सुप्रमे
माङ्गलिके दर्पणे प्रतिबिम्बिता इव सुस्पष्टमभिलक्ष्यते ॥

भाषार्थ—सप्रमाण, निर्दोष, मनोहर और मङ्गलकारी वचनोंमें तुम्हारी बुद्धिका प्रभाव ऐसा झलक रहा है जैसे निर्मल चमकते मनोहर और माङ्गलिक दर्पणमें किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है ।

विशेष—पूर्वश्लोकमें कह चुके हैं कि उन्नत हाथीको जैसे वशमें किया जाता है वैसे ही भीमको शान्त करनेके लिये युधिष्ठिरकी उक्तियोंका वाच्य अर्थ तो स्पष्ट ही ऐसा है जिसमें भीमकी प्रशंसा हो किन्तु व्यंग्यार्थ निन्दात्मक भी होता है । जैसे इस श्लोकमें वाच्य अर्थ तो है कि युक्ति-युक्त और निर्दोष वाणीके विस्तारमें तुम्हारा बुद्धिवैभव अर्थात् पाण्डित्य स्पष्ट झलक रहा है । किन्तु व्यंग्य यह होता है कि तुम्हें कितनी बुद्धि है यह तुम्हारे कथनसे ही स्पष्ट हो रहा है । आगेके पद्योंमें भी इसी प्रकार व्यंग्य प्रकट होता है ॥ २६ ॥

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।

रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २७ ॥

अन्वयः—पदैः, स्फुटता, न, अपाकृता, अर्थगौरवं, च, न, न स्वीकृतं, गिरां, पृथगर्थता, रचिता, क्वचित्, सामर्थ्यं, च, न, अपोहितम् ॥

पदार्थ—पदैः = पदोंने । स्फुटता = स्पष्टताको । न अपाकृता = नहीं छोड़ा है । अर्थगौरवं च = अर्थकी महत्ताको भी । न न स्वीकृतं = नहीं स्वीकार किया ऐसा नहीं (अर्थात् स्वीकार किया है) । गिरां = वाणीकी । पृथगर्थता = भिन्नार्थकता । रचिता = की है (अर्थात् प्रत्येक पद अपना भिन्न अर्थ रखता है पुनरुक्ति नहीं है) । क्वचित् = कहीं भी । सामर्थ्यं = साकाक्षता । न अपोहितं = नहीं छोड़ी है ॥

घष्ठापथः—अथ युग्मेनाह—स्फुटतेति । पदैः = सुप्तिङन्तशब्दैः । स्फुटता = विशदार्थता । नापाकृता = न त्यक्ता [अर्थस्य गौरवम्] अर्थगौरवम्—अर्थभूयस्त्वं च, न न स्वीकृतम् । स्वीकृतमेवेत्यर्थः । वैशद्यप्रसक्तार्थगौरवाभावनिवर्तनार्थं नब्धयम् । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः । गिरां = पदानामवान्तरवाक्यानां च, [पृथक् चासौ अर्थश्च पृथगर्थः, पृथगर्थस्य भावः] पृथगर्थता = भिन्नार्थता । अपुनरुक्तार्थतेति यावत् । रचिता = कृता । तथा क्वचिदपि सामर्थ्यं = गिरामन्योन्यसाकाक्षत्वं । नापोहितं = न वञ्चितम् । अन्यथा दशदाडिमादिशब्दवदेकवाक्यता न स्यात् । यथाहुः—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं सापेक्षं चेद्विभागे स्यात्' इति । नन्वर्थगौरवमित्यत्र कथं षष्ठीसमासः, 'पूरणगुण—' इत्यादिना प्रतिषेधात् । नैप दोषः । ये शुक्लादयः शब्दाः गुणे गुणिनि च वर्तन्ते, यथा पटस्य शौक्ल्यं शुक्लः पट इति च, तेषामेवात्र निषेधात् । ये पुनः स्वतो गुणमात्रवचना यथा—गौरवं प्राधान्यं रसो गन्धः स्पर्श इत्येवमादयस्तेषामनिषेधात् । तथा—'तत्त्वैश्च गुणैः षष्ठी समस्यते' इति वचनात्, बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनाच्च । बलाकायाः शौक्ल्यमित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमासः । अत एवाह वामनः—'पत्वपीतिमादिषु गुणवचन-समासौ बालिश्याद्' इति ॥ २७ ॥

वाच्य—पदानि स्फुटतां न अपाकृतवन्ति, (त्वं) अर्थगौरवं न स्वीकृतवान् इति न । गिरां पृथगर्थतां रचितवान् । क्वचित् सामर्थ्यं न अपोहितवान् ॥

भावार्थः—तब वाक्प्रपंचे स्पष्टाः परिमिताश्च शब्दाः, अर्थवैपुल्यं प्रचुरं, सार्थको वाक्य-विन्यासः, न पौनरुक्त्यं, क्वचिदपि सामर्थ्यं—परस्परसङ्गतिः साकांक्षता च न विनष्टा । समीचीन-मुक्तं भवतीति भावः ॥

भाषार्थः—तुमने जो विस्तारपूर्वक कहा है उसमें पदोंमें स्पष्टता है । कहीं भी अर्थगौरव नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता । प्रत्येक वाक्यका अपना भिन्न-भिन्न अर्थ है । पुनरुक्ति कहीं नहीं है । प्रत्येक वाक्य एक दूसरेके प्रति साकांक्ष है अर्थात् सभी बातें सार्थक हैं ॥

विशेषः—इसमें भी थोड़ेसे हेरफेरसे व्यंग्य अर्थ होता है । जैसे—‘पदैः स्फुटता न अपाकृता इति न, अर्थगौरवं च न स्वीकृतं, गिरां पृथगर्थता न रचिता, क्वचित् सामर्थ्यं च अपो-हितं’ अर्थात् तुम्हारे कथनमें पदोंने स्पष्टता नहीं छोड़ी है ऐसा नहीं है अर्थात् तुमने जो कहा वह स्पष्ट और शास्त्रसंमत नहीं । अर्थकी विपुलता नहीं है, भिन्नात्मकता भी नहीं है, एक ही बातको प्रकारान्तरसे दुहरा दिया है । कहीं-कहीं व्यर्थकी बकवाद-सी हो गई है । तात्पर्यं यह कि तुमने जो कहा वह विचारपूर्वक नहीं कहा है, इसीलिये क्रमसे उनकी उक्तियोंका खंडन करेंगे ॥ २७ ॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।

इदमीदृगानीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ? ॥ २८ ॥

अन्वयः—बलाद्, उपपत्तिः, उदाहृता, अनुमानेन, आगमः, च, न, क्षतः, ईदृक्, इदं, अनीदृगाशयः, कः, वक्तुम्, उपक्रमेत ॥

पदार्थः—बलाद् = बलसे (अर्थात् बल प्रयोग करना चाहिये इस विषयमें) उपपत्तिः = युक्ति । उदाहृता = दी है । अनुमानेन = तर्कनाओंसे । आगमः = शास्त्र (का), न क्षतः = विरोध नहीं किया है । ईदृक् = इस प्रकारके (क्षात्र तेजसे पूर्ण), इदं = इस कथनको । अनीदृगाशयः = ऐसा भाव जिसका नहीं है ऐसा (अर्थात् विरोचित अभिप्रायसे रहित), कः = कौन व्यक्ति । प्रसभं = निर्भय होकर । वक्तुम् उपक्रमेत = कहना प्रारंभ करेगा ॥

घट्टापथः—उपपत्तिरिति । किञ्च बलाद् = बलमाश्रित्य । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या । उपपत्तिः = युक्तिरुदाहृता = पराक्रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः । उचितं चैतन्महावीरस्येति भावः । तथाऽनुमानेन = युक्त्या, आगमः = शास्त्रं च, न क्षतो = न हतः । किन्त्वागमाद्विरुद्धमेवोक्तम् । अन्यथा तदिरोधादनुमानस्यैव प्रामाण्यमङ्गादिति भावः । ईदृग् = इत्थं क्षात्रयुक्तमिदं वचनम्, अविद्यमान ईदृगाशयः = इत्थं क्षात्रयुक्तमभिप्रायो यस्य सः अनीदृगाशयः । ‘अभिप्रायश्छन्द आशयः’ इत्यमरः । कः प्रसभं = हठात्, वक्तुमुपक्रमेत [= निगदितुमारभेत] न कोऽपीत्यर्थः । इत्थं वक्तुमुपक्रमेतैव नास्ति-वक्ता तु दूरापास्त एवेति भावः । केचिदेतच्छ्लोकत्रयं निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति । तदसत् । हितोपदेशमात्रतत्पर-स्यातिवृत्तलस्य मत्सरिण इव महावीरे आतारि विषये सर्वानर्थमूलभूतनिन्दातात्पर्यकल्पनाऽनौ-चित्यादिति ॥ २८ ॥

वाच्य०—बलाद् उपपत्तिमुदाहृतवान्, अनुमानेन आगमं न क्षतवान् । ईदृग् इदं अनी-
दृगाशयेन केन वक्तुमुपक्रम्येत ॥

भावार्थः—युक्तियुक्तमागमविरुद्धं वीरोचितं वाक्यं निर्भयो भूत्वा त्वां विहाय कोऽन्यो
वक्तुं समर्थः ॥

भाषार्थ—युक्तिपूर्वक बल-प्रयोगको सिद्ध करनेवाले और शास्त्र सम्मत वीरोचित ऐसे
वाक्योंको निर्भय होकर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन कह सकता है ॥

विशेष—इसमें भी थोड़े हेर-फेरसे व्यंग्यार्थ निकलता है । जैसे—“बलाद् उपपत्तिरुदा-
हृता अनुमाने आगमः न क्षतः इति न, अर्थात् तुमने बलपूर्वक युक्तियोंको लादा है । तुम्हारे
तर्कोंमें शास्त्रोंका विरोध नहीं हुआ ऐसी बात नहीं । तुम्हारे सिवा ऐसी बातोंको कौन कह सकता
है ।” इत प्रकार जैसे भीमसेनने “करिणी पद्ममिवावसीदति” कहकर युधिष्ठिरकी बुद्धिकी उपमा
करिणीसे दी थी वैसे ही कविने भीमकी उपमा उन्नत द्वाशीसे देकर उसकी उक्तियोंको अनुचित
ठहराते हुए युधिष्ठिर द्वारा उनका सोपपत्तिक खंडन करवाया है ॥ २८ ॥

अवितृप्ततया तथापि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।

अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥ २९ ॥

अन्वयः—तथापि, अवितृप्ततया, मे, हृदयं, निर्णयम्, एव, धावति, विधेयेषु, विशेष-
सम्पदः, सुखम्, अवसाययितुं न क्षमाः ॥

पदार्थ—तथापि = तुम्हारे कहनेके बाद भी । अवितृप्ततया = पूर्ण सन्तुष्ट न होनेसे । मे
हृदयं = मेरा हृदय । निर्णयम् एव धावति = निर्णयकी ओर ही दौड़ रहा है (अर्थात् फिर भी मैं
इसका निर्णय ही करना चाहता हूँ) । (क्योंकि) विधेयेषु = (सन्धिविग्रहादि) कर्त्तव्य कार्योंके
विषयमें । (जो) विशेषसम्पदः = अवान्तर वेद रूप उत्कृष्ट सम्पत्तियाँ हैं । (वि) सुखं = अनायास
ही । अवसाययितुं समझनेके । न क्षमाः = योग्य नहीं है ॥

घण्टापथः—अवितृप्ततयेति । तथापि = त्वया सम्यङ्निर्णातेऽपि मे हृदयम्-अवितृप्त-
तया = असन्तुष्टतया । अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः । निर्णयमेव धावति = अनुसरति । अपेक्षत
इति यावत् । अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः । निर्णयानुदये हेतुमाह—अवेति । विधेयेषु =
सन्धिविग्रहादिकर्त्तव्यार्थेषु या [विशेषाणां सम्पदः] विशेषसम्पदः = अवान्तरभेदभूमानस्ताः
सुखम् = अक्लेशेनावसाययितुम् = पुरुषान्प्रत्ययानुकूल्येन स्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितु-
मित्यर्थः । स्यतेर्ण्यन्तादपि कर्मकर्त्तृकात्तुम् । णे रणावित्यादिसूत्रस्याम् (न) विषयः । क्षमन्त
इति क्षमाः [पचायच्] = शक्ता न भवन्ति । ‘क्षमं शक्ते हिते त्रिषु’ इत्यमरः । विधेयमात्रस्य
सुगमत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्वाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकांक्षेति तात्पर्यार्थः । अत्र
निर्णयधावनं प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तम्—
‘हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्’ इति ॥ १२ ॥

वाच्य०—तथापि अवितृप्ततया मे हृदयेन निर्णय एव धावत्येते । विधेयपदेषु विशेषसम्पदभिः
सुखम् अवसाययितुं न क्षमाभिः (भूयते) ॥

भावार्थः—स्वयैवमाग्रहे कृतेऽपि मे हृदयं पूर्णतया सन्तोषं न लभते, अतः पुनस्तत्र निर्णेतुमीहे यत्-किं मया करणीयमिति । यतो हि सन्धिविग्रहादिकर्तव्यकर्मणां येऽवान्तरभेदास्ते नानायासेनावधारयितुं शक्या भवन्ति ॥

भाषार्थः—तुम्हारे इतना कहनेपर भी मेरा हृदय पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हुआ और मैं यह निर्णय करना चाहता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये । क्योंकि सन्धिविग्रहादि कार्योंके अवान्तर भेदोंका यों ही आसानीसे निर्धारण नहीं किया जा सकता ॥

विशेषः—युधिष्ठिरका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे इस कथनसे मुझे सन्तोष नहीं होता अर्थात् तुम्हारे कहनेमें आकर यदि मैंने शत्रुपर आक्रमण कर भी दिया तो मैं ही जीतूँगा यह निश्चय नहीं । इसलिये मैं यह निश्चय करना चाहता हूँ कि वह परिस्थिति कब आयेगी जिसमें हम अवश्य ही विजयी होंगे । क्योंकि राजनीति इतनी आसान नहीं जितनी तुम समझते हो । सन्धिविग्रहादिके भेद इतने सूक्ष्म होते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिसे यों ही उनका निर्धारण नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

सहसा विदधीत न क्रियासविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ ३० ॥

अन्वयः—क्रियां, सहसा, न, विदधीत, अविवेकः, परमापदां, पदम्, हि गुणलुब्धाः, सम्पदः, विमृश्यकारिणं, स्वयम्, एव, वृणते ॥

पदार्थः—क्रियां=कार्योंको । सहसा=बिना समझे-बूझे । न विदधीत=न करे । अविवेकः=अविचार । परमापदां=अत्यन्त आपत्तियोंका । पदं=स्थान होता है । हि=क्योंकि । गुणलुब्धाः=गुणोंमें अनुराग रखनेवाली । सम्पदः=सम्पदाएँ । विमृश्यकारिणं=विचारपूर्वक काम करनेवालेको । स्वयमेव=अपने आप ही । वृणते=चुनती है ।

घट्टापथः—वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—सहसेति । क्रियत इति क्रिया, तं=कार्यं । सहसा=अविमृश्येत्यर्थः । 'सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः' इति गणव्याख्याने स्वरादिषाठादव्ययम् । न विदधीत=न कुर्वीत । कुतः ? अगिवेकः=अविमृश्यकारित्वं परम्=अत्यन्तमापदां पदं=स्थानम् । कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणते इति । [गुणेषु लुब्धाः] गुणलुब्धाः=गुणगृण्व इति स्वयंवरहेतुक्तिः । सम्पदः=श्रियः । विमृश्यकारी । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । तं स्वयमेव वृणते=भजन्ते हि । 'वृड् संभक्तौ' इति धातुः । तस्माद्विमृश्येव प्रवर्तितव्यमित्यर्थः । अत्र सहसा विधाननिषेधलब्धविमृश्यकारित्वरूपकारणस्यापद्रूपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्विधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । द्वितीयाधेन च स एव साधर्म्येणेति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

वाच्यं—क्रिया सहसा न विधीयत । अविवेकेन परमापदां पदेन 'भूयते' । हि गुणलुब्धाभिः सम्पद्भिः स्वयमेव विमृश्यकारी क्रियते ॥

भावार्थः—किमपि कर्म सहसा न कार्यम् । अविचार्य कृतैः कर्मभिः परा विपद् आपतन्ति । सम्पदो हि गुणेष्वनुरज्यन्ते, अतो यो विवेकेन कार्यं करोति तं ताः स्वयमेव भजन्ते ॥

भाषार्थ—कोई भी कार्य सहसा नहीं करना चाहिये । बिना विचारे कार्य करनेसे बहुत-सी विपत्तियाँ आ पड़ती हैं । सम्पत्तियाँ तो गुणोंपर अनुरक्त रहती हैं जो गुणी और विवेकी होता है उसके पास वे स्वयं आती हैं ॥

विशेष—भारविका यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है । कहते हैं इसपर उन्हें लक्षमुद्रा प्राप्त हुई थी । इसके विषयमें कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनका निर्देश भूमिकामें किया गया है ॥ ३० ॥

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिवीजानि विवेकवारिणा ।

स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—यः, विधिवीजानि, विवेकवारिणा, अनुपालयन्, अभिवर्षति, सः, लोकः, शरदम्, इव, फलशालिनीं, क्रियां, सदा, अधितिष्ठति ॥

पदार्थ—यः=जो पुरुष । विधिवीजानि=सन्धिविग्रहादि रूप बीजोंको । विवेकवारिणा=विवेकरूप जलसे । अनुपालयन्=रक्षा करता हुआ । अभिवर्षति=सींचता है । सः=वह (विधिपूर्वक धान्यादि बीजोंको विवेकपूर्वक जलसे समय-समयपर सींचते हुए) लोकः=लोग । शरदमिव=शरद ऋतुमें जैसे । सदा=नित्य ही । फलशालिनीं=फल देनेवाली । क्रियां=क्रियाको । अधितिष्ठति=प्राप्त करता है ॥

घण्टापथः—ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिर्दृश्यत एव, तर्हि विवेकेनेत्यत्राह—**अभीति ।**

यः=पुमान् । विधीयन्ते इति विधयः कृत्यवस्तूनि, बीजानीवेत्युपमितसमासः, 'शरदं लोक इवे'ति वाक्यगतोपमाऽनुसारात् । तानि विधिवीजानि [=बीजोपमानि सन्धिविग्रहादिकृत्यवस्तूनि] । विवेको वारीव तेन विवेकवारिणा [=जलतुल्येन विमर्शेन] । पूर्ववत्समासः । अनुपालयन्=प्रतीक्षमाणः, संरक्षन् । अभिवर्षति=सिञ्चति । सः=पुमान्, फलं=साधन-निष्पाद्योऽर्थः, सस्यं च । 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्युभयत्राप्यमरः । तच्छालिनीं क्रियां=कर्म । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । शरदमिव सदा=नित्यमधितिष्ठति । सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव, न कदाचिद् व्यभिचरतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिविवेकिनस्तु नियतेति भावः । अत्र फलशब्देन सस्यहेतुकृतयोरर्थयोरभेदाध्यवसायाज्ज्ञेयमूलातिशयोक्तिस्तदनुगृहीता चोपमेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३१ ॥

वाच्यं—येन विधिवीजानि विवेकवारिणा अनुपालयता अभिवृष्यन्ते तेन लोकेन शरद् इव फलशालिनी क्रिया अधिष्ठीयते ॥

भावार्थः—यथा यः कृषीवलः धान्यं क्षेत्रे उप्त्वा तानि रक्षन् जलेन सिञ्चति स शरदि प्रचुरं धान्यफलानि लभते, तथैव यः पुरुषः बीजानीव सन्धिविग्रहादीनि विवेकेनानुतिष्ठन् कालं प्रातीक्षमाणस्तिष्ठति स सर्वदैव प्रचुरां कार्यसिद्धिं प्राप्नोति ॥

भाषार्थ—जैसे जो किसान धान्यादि बीजोंको विधिपूर्वक बोकर उनकी रक्षा करता हुआ जलसे सींचकर उनकी प्रतीक्षा करता है वह शरद् ऋतुमें प्रचुर फल पाता है, उसी प्रकार

जो व्यक्ति सन्धि-विग्रहादि कार्योंको विधिपूर्वक करता हुआ विवेकसे उनकी प्रतीक्षा करता है वह नित्य ही कार्यसिद्धिरूप फलको प्राप्त करता है ॥

विशेष—केवल अपने पुरुषार्थके भरोसे साहस करके काम करनेवाले व्यक्तिको काक-तालीयन्यायसे भेले ही कभी सिद्धि मिल जाय, किन्तु विचारपूर्वक और शास्त्रसम्मत कार्य करने-वालेको सर्वदा निश्चित रूपसे सिद्धि मिलती है। वह कभी असफल हो ही नहीं सकता। यह युधिष्ठिरके कथनका तात्पर्य है ॥ ३१ ॥

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।

प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—शुचि, श्रुतं, वपुः, भूषयति, प्रशमः, तस्य, अलङ्क्रिया, भवति, पराक्रमः, प्रशमाभरणं, सः, नयापादितसिद्धिभूषणः ॥

पदार्थ—शुचि=परम्परागत पवित्रता युक्त। श्रुतं=शास्त्र। वपुः=शरीरको। भूषयति=शोभित करता है। प्रशमः=शान्ति। तस्य=उस शास्त्रको। अलङ्क्रिया भवति=अलङ्कृत करनेवाली होती है। पराक्रमः=पौरुष। प्रशमाभरणं=शान्तिका अभूषण है। (और) स नयापादितसिद्धिभूषणः=वह (पराक्रम) उचितमार्गसे प्राप्त सिद्धि ही जिसका भूषण है, ऐसा है ॥

घट्टापथः—नियता विवेकिनः फलसिद्धिरित्युक्तम्। सम्प्रति तामेव रच्यर्थे स्तौति—**शुचीति**। शुचि=सम्प्रदायशुद्धं, श्रुतं=शास्त्रश्रवणं कर्तुं, वपुर्भूषयति। अन्यथा विद्वान्पुरुषः शोच्य इति भावः। तस्य=श्रुतस्य। प्रशमः=क्रोधोपशान्तिः, अलङ्क्रिया=भूषणं भवति। अन्यथा श्रुतवैफल्यदिति भावः। पराक्रमः=सत्यवसरे शौर्यं, प्रशमस्याभरणं भवति। अन्यथा सर्वैः परिभूयत इति भावः। सः=पराक्रमः [नयेन आपादिता] नयापादिता=नीतिसम्पादिता। विवेकपूर्विकेति यावत्। सा चासौ सिद्धिश्च सैव भूषणं यस्य स तथोक्तः। अन्यथा साहसिकस्य सिद्धेः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैयर्थ्यं स्यादिति भावः। 'वपुषो भूष्यतैवात्र सिद्धेर्भूषणतैव तु। उभयं मध्यमानां तु तेषां पूर्वोत्तरेच्छया ॥' इति विवेकः। एवं विशिष्टसिद्धेरन्यभूषिताया एव भूषणत्वोक्त्या सर्वोत्तरया स्तुतिर्गम्यते। अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावस्थलङ्कारः। तदुक्तम्—'यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव। भवति परं परमेपाङ्गकृतिरेकावली कथिता ॥' इति ॥ ३२ ॥

गाध्यः—शुचिना श्रुतेन वपुः भूष्यते। प्रशमेन तस्य अलङ्क्रियया भूयते। पराक्रमेण प्रशमाभरणेन भूयते। तेन नयापादितसिद्धिभूषणेन भूयते ॥

भावार्थः—परम्पराप्राप्ता विद्या वपुषो भूषणं। शान्तिश्च विद्यायाः भूषणं। पराक्रमः तस्याः शान्तेर्भूषणं। सन्मार्गलब्धा कार्यसिद्धिश्च पराक्रमस्य भूषणं भवति।

भाषार्थः—परम्परागत विद्या शरीरका भूषण है, शान्ति उस विद्याका भूषण है। पराक्रम उस शान्तिका भूषण है और उचित मार्गसे प्राप्त कार्यसिद्धि उस पराक्रमको भूषित करती है ॥

विशेष—कुलपरम्परासे प्राप्त विद्या शरीरको शोभित करती है अन्यथा विद्वान् होता हुआ भी व्यक्ति शोचनीय ही होता है। क्योंकि अपने सम्प्रदायके दृढ़ संस्कार छूटते नहीं,

उनका उपयोग न कर दूसरे सम्प्रदाय की विद्या अर्जित भी कर ली तो भी उसका उपयोग पूर्ण-तया नहीं हो सकता । इसलिये मनुष्य की स्थिति विद्वान् होनेपर भी उपहासास्पद होती है । विद्वान् होनेपर भी यदि उसमें शान्ति न हुई तो वह शास्त्र बेकार हो जाते हैं । क्योंकि क्रोध मनुष्यके विवेक को नष्ट कर देता है और अविवेकीकी विद्या कुछ काम नहीं आती । शान्त व्यक्ति यदि पराक्रमी हुआ तो उचित है अन्यथा सब उसे दबाते रहते हैं । पराक्रम भी बिना विचारे जहाँ कहीं ठीक नहीं होता । विवेक पूर्वक कार्य करके पाई हुई सिद्धिवाला पराक्रम अच्छा होता है । अन्यथा कभी सिद्धि न हुई तो वह पराक्रम ही व्यर्थ हो जाता है, इसलिये मनुष्यको अपनी मर्यादाके अनुसार विद्वान्, शान्त, पराक्रमी और विवेकपूर्वक कार्यकरनेवाला होना चाहिये ॥२२॥

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मतिभेदतमस्तिरोहिते, गहने, विवेकिनां, कृत्यविधौ, सुकृतः परिशुद्धः आगमः, दीप इव, अर्थदर्शनं, कुरुते ॥

पदार्थः—मतिभेदतमस्तिरोहिते=बुद्धिभ्रम होनेपर कर्तव्यज्ञानसे शून्य । गहने=दुर्बोध । कृत्यविधौ=कार्यानुष्ठानमें । विवेकिनां=विचारपूर्वक कार्य करनेवालोंका । सुकृतः=अच्छी प्रकार अभ्यास किया हुआ । परिशुद्धः=परम्पराप्राप्त । आगमः=शास्त्र (मतिभेदतमस्तिरोहिते=मतिभेदकी तरह अन्धकारसे ढके हुए । गहने=गाढ़े । विवेकिनां=कुशल व्यक्तियोंसे । सुकृतः=अच्छी प्रकार बनाये हुए । परिशुद्धः=निर्मल ।) दीप इव=दीपककी तरह, अर्थदर्शनं=कार्यका ज्ञान (दीपकपक्षमें वस्तु-पदार्थ का ज्ञान) कुरुते=करता है ।

घण्टापथः—‘विमृश्य कुर्या’ दिति स्थितं, तत्र विमर्शोपायः क इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—मतीति । [मतेर्भेदो मतिभेदः, मतिभेदस्तम् इव—मतिभेदतमः, तेन तिरोहितं मतिभेदतमस्तिरोहितं, तस्मिन्—मतिभेदतमस्तिरोहिते] **मतिभेदः**=कार्यविप्रतिपत्तिः । मतिभेदस्तम् इवेत्युपमितसमासः ‘दीप इव’ इत्युपमाऽनुसारात् । तेन तिरोहिते=आच्छन्नेऽत एव गहने=दुरवगाहे [कृत्यस्य विधिः—कृत्यविधिः=तस्मिन्] **कृत्यविधौ**=कार्यानुष्ठाने, विवेकोऽस्त्येषां ते विवेकिनः, तेषां (विवेकिनां—**सुकृतः**=सदभ्यस्तोऽत एव **परिशुद्धः**=निश्चितः । अन्यत्र-सुविहितः, प्रवातादिदोषरहितश्च । **आगमः**=शास्त्रम् । ‘आगमः शास्त्र आगत’ इति विश्वः । **दीप इव** [अर्थस्य दर्शनम्—अर्थदर्शनं, तत्] **अर्थदर्शनं**=कार्यज्ञानं वस्तुप्रतिभासनं च कुरुते ॥३३॥

वाच्यं—मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनां सुकृतेन परिशुद्धेन आगमेन दीपेन इव अर्थदर्शनं क्रियते ।

भाषार्थः—बुद्धिभ्रमान्धकाराच्छन्ने गहने कार्यविधौ विवेकिनां सदभ्यस्तं सत्सम्प्रदायागतं शास्त्रमेव तथा कार्यपरिज्ञानं कारयति यथाऽन्धकाराच्छन्ने स्थाने युनिर्मितो निर्मलो दीपः पदार्थदर्शयति तत्परिज्ञानं च कारयति ॥

भाषार्थः—नाना मतभेदोंके कारण-जहाँ उचित कर्तव्य का ज्ञान नहीं होता वहाँ पर विवेकशील व्यक्तियोंके लिए अच्छी प्रकार अभ्यास किया हुआ परम्परागत शास्त्र ही इस प्रकार

उचित मार्गका निर्णय करता है जैसे कुशल कारीगरसे बनाया हुआ दीपक गाढ़ अन्धकारको हटाकर घट पट आदि वस्तुओंको प्रकट कर देता है ।

विशेष—इसलिए मनुष्यको सदा शास्त्रानुसार ही कार्य करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः ।

विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—स्पृहणीयगुणैः, महात्मभिः, चरिते, वर्त्मनि, मनः, यच्छतां, विधिहेतुः, आगसाम्, अहेतुः, विनिपातः, अपि, समुन्नते, समः (भवति) ॥

पदार्थ—स्पृहणीयगुणैः = अनुकरणीय गुणोंवाले । महात्मभिः = महात्माओंसे । चरिते = आचरण किये हुए । वर्त्मनि = मार्गमें । मनः यच्छतां = चित्तको लगाते हुए (व्यक्तियोंका), विधिहेतुः = भाग्यवशात् उत्पन्न ? (और) आगसां = अपराधोंका । अहेतुः = अनिमित्त । विनिपातः अपि = पतन (विपत्ति) भी । समुन्नते समः (भवति) = अभ्युदयके समान ही होता है ॥

घष्टापथः—एवं विमृश्य कुर्वतो दैवाद नर्थागमेऽपि न कश्चिदपराधत इत्याह—स्पृहणीयेति । [स्पृहणीया गुणा येषां ते स्पृहणीयगुणाः, तैः] स्पृहणीयगुणैः = लोकश्लाघ्यगुणैः । [महान्त आत्मानो येषां ते महात्मानः, तैः] महात्मभिः = सज्जनेन । चरिते = अनुष्ठिते । वर्त्मनि = आचारे । मनः यच्छतां = निदधताम् । सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः । [विधिरेव हेतुरस्य सः] विधिहेतुः = दैवनिमित्तकः । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । अतएव—आगसाम् = अपराधानाम् । [न हेतुः] अहेतुर्विनिपातः = दैविकानर्थोऽपि । 'विनिपातोऽवपाते स्याद्दैवादिव्यसनेऽपि च' इति विश्वः । समुन्नतेः = अतिवृद्धेः । समः = तुल्यः । दैविकेषु पुरुषस्यानुपालभ्यत्वादिति भावः, यथाह कामन्दकः—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम् । पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः' इति ॥ ३४ ॥

वाच्यं—स्पृहणीयगुणैः महात्मभिः चरिते वर्त्मनि मनः यच्छतां विधिहेतुना आगसामहेतुना विनिपातेनापि समुन्नतेः समेन भूयते ॥

भावार्थः—प्रशंसनीयचरितैर्महानुभावैर्यदाचरितं तदेवाचरतां जनानां दैववशात् नतु स्वापराधाद्यदि विपदध्यापतेत् चेत् सायुन्नतेः सममेव मन्तव्या ॥

भाषार्थ—सराहने योग्य गुणोंवाले महापुरुष जिस मार्गका अनुसरण करते हैं उसीके अनुसार चलते हुए व्यक्तियोंको भाग्यवश विपत्ति आ पड़े और वह विपत्ति अपनी सावधानी या अपराधोंसे न हुई हो तो वह पतन भी उन्नति के ही समान है ॥

विशेष—भीमने कहा था—“विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम्” और “विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं” इसीके उत्तरमें युधिष्ठिर कहते हैं—महापुरुषोंके बताये मार्ग पर चलते हुए यदि हमपर विपत्ति आ भी गई तो कोई बात नहीं, यह विपत्ति भी उन्नतिके समान ही है । क्योंकि सन्मार्ग पर चलनेवालेका भविष्य बुरा नहीं होता । दुर्योधन इस समय भले ही

सम्पत्ति पा गया हो किन्तु उसका भविष्य अच्छा नहीं हो सकता, क्योंकि वह असन्मार्ग से सम्पत्तिमान् बना है ॥ ३४ ॥

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।

विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—विजितक्रोधरयाः, जिगीषवः, गरीयसीम्, अदूषितायतिम्, फलनिष्पत्तिं, विगणय्य, पौरुषं, शिवम्, औपयिकं, नयन्ति ॥

पदार्थ—विजितक्रोधरयाः=जीत लिया है क्रोधके वेगको जिन्होंने, ऐसे। विजिगीषवः=विजयेच्छु राजा। गरीयसीं=विपुल। अदूषितायतिम्=जिसका भविष्य बुरा नहीं, ऐसी। फलनिष्पत्तिं=कार्यसिद्धिको। विगणय्य=निश्चय करके। पौरुषं=पुरुषार्थको। शिवं=अनुकूल। औपयिकं=उपायमें। नयन्ति=लगाते हैं ॥

घण्टापथः—शिवसिति । [जेतुमिच्छन्ति जिगीषन्ति, जिगीषन्तीति] जिगीषवः=विजयेच्छवो नृपाः । [क्रोधस्य रयः क्रोधरयः, विजितः क्रोधरयो यैस्ते] विजितक्रोधरयाः=जितक्रोधवेगाः सन्तः, गरीयसीं=प्रभूताम् [न दूषिता अदूषिता, आयतिर्यस्याः सा-अदूषितायतिः, ताम्] अदूषितायतिम्=अक्षतोत्तरकालाम् । स्वन्तामित्यर्थः । [फलस्य निष्पत्तिः-फलनिष्पत्तिः, तां] फलनिष्पत्तिं=फलसिद्धिं, विगणय्य=फलवत्त्वं निश्चित्येत्यर्थः । पौरुषं=पुरुषकारं, शिवम्=अनुकूलम् । [उपाय एव औपयिकः, तम्] औपयिकम्=उपायम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । 'उपायादभ्रस्वत्वं च' । नयन्ति=प्रापयन्ति । पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः । नाऽनिश्चितफलं कर्म कुर्वत इति भावः । यथाह कामन्दकः 'निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्ध-फलमेव च । न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च ॥' इति । नयतिः प्रापणार्थं दिकर्मकः । अत्र पौरुषस्य कर्तृत्वकर्मत्वेऽप्युपायस्याऽतथात्वात्क्रोधं विनयत इत्यादिवत् 'कर्तृत्वे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदं न भवति ॥ ३५ ॥

वाच्य०—'विजितक्रोधरयैः जिगीषुभिः गरीयसीमदूषितायति फलनिष्पत्तिं विगणय्य पौरुषं शिवमौपयिकं नीयते ॥

भावार्थः—विजयैषिणो नृपाः क्रोधवेगं निरुध्य गुर्वी शुभां प्रचितोत्तरकालां फलसिद्धिं निश्चित्यानुकूलेनोपायेन पौरुषं योजयन्ति ॥

भापार्थ—विजय चाहनेवाले राजा लोग क्रोधादिके वेगको रोककर विपुल और प'णाममें शुभ फल देनेवाली कार्यसिद्धिका निर्णय करके पराक्रम पूर्वक उपाय करते हैं ॥

विशेष—'अचिरेण परस्य भूयसी०' का यह उत्तर है । तात्पर्य यह है कि विजिगीषु राजा शान्त होकर ही अपने पुरुषार्थसे उस सिद्धिको प्राप्त करनेका उपाय करते हैं जो परिणाममें शुभ और विपुल हो । अधिक कष्ट सहकर थोड़ासा लाभ हो तो उपेक्षा करते हैं ॥ ३५ ॥

अपनेयमुदेतुमिच्छतां तिमिरं रोपमयं धिया पुरः ।

अविभिय निशाकृतं तमः प्रभया नाऽशुमताऽप्युदीयते ॥ ३६ ॥

अन्वयः—उदेतुम्, इच्छता, पुरः, धियो, रोपमयं, तिमिरम्, अपनेयम्, अंशुमता, अपि निशाकृतं, तमः, अविभिद्य, न, उदीयते ॥

पदार्थः—उदेतुं = अभ्युदयकी । इच्छता = इच्छा करते हुए (राजाको) । परः = पहिले । धियो = विवेक बुद्धिसे । रोपमयं = क्रोधजन्य । तिमिरं = अज्ञानको । अपनेयम् = हटाना चाहिये । अंशुमता अपि = सूर्य भी । प्रभया = अपनी कान्तिसे । निशाकृतं = रात्रिजन्य । तमः = अन्धकारको । अविभिद्य = बिना हटाये । नोदीयते = उदय नहीं हो सकता ॥

घष्पापथः—यदुक्तं विजितक्रोधरया इति तदावश्यकमित्याह—अपनेयमिति । उदेतुम् = अभ्युदेतुमिच्छता राजा पुरः = प्रथमं, रोपमयं = रोषादागतम् । 'मयट् च' इति मयट् । तिमिरम् = अज्ञानं धियो = विवेकबुद्ध्या करणेनापनेयम् = अपनोद्यम् । तथाहि—अंशुमताऽपि कर्त्रा, प्रभया = तेजसा करणेन, [निशया कृतं] निशाकृतं = रात्रिजन्यं तमो = ध्वान्तमविभिद्य नोदीयते । किन्तु विभिद्यैवेत्यर्थः । सूर्यस्याऽप्येवं किमुतान्येषामित्यपि शब्दार्थः । इणो भावे लट् ॥ ३३ ॥

वाच्यः—उदेतुमिच्छन् पुरः धिया रोपमयं तिमिरमपनयेत्, अंशुमानपि प्रभया निशाकृतं तमोऽविभिद्य नोदेति ॥

भावार्थः—यः राजा स्वाभ्युदयं वाञ्छति तेन पूर्वं स्वविवेकबुद्ध्या क्रोधमयमन्धकारं परिहर्तव्यम्, प्रखरकिरणसम्पन्नोऽपि सूर्यः तदैवोदेतुं शक्नोति यदा स्वप्रभया निशाजन्यमन्धकारं दूरीकरोति ॥

भाषार्थः—जो राजा अपना अभ्युदय चाहता है उसे पहिले विवेकसे काम लेकर अपने क्रोधरूप अज्ञानको नष्ट कर देना चाहिये, क्योंकि सूर्य भी रात्रिजन्य अन्धकारको अपनी कान्तिसे नष्ट किये बिना उदय नहीं होता ॥

विशेषः—जब इतनी प्रखर किरणोंवाला और जगद्भासक सूर्य बिना अन्धकारको हटाये उदय नहीं हो सकता तब साधारण मनुष्य बिना क्रोधरूप अज्ञानको नष्ट किये कैसे उदयको प्राप्त कर सकता है ? यह तात्पर्य है ॥ ३६ ॥

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।

क्षयपक्षे इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—बलवान्, अपि, यः, कोपजन्मनः, तमसः, अभिभवं, न, रुणद्धि, सः, नृपः, क्षयपक्षे, ऐन्दवीः, कलाः, इव, सकलाः, शक्तिसम्पदः, हन्ति ॥

पदार्थः—बलवानपि = बलशाली भी । यः = जो राजा । कोपजन्मनः = क्रोधजन्य । तमसः = अज्ञानको । अभिभवं = आक्रमणको । न रुणद्धि = नहीं रोक सकता । सः = वह । नृपः = राजा । क्षयपक्षे = कृष्णपक्षमें । ऐन्दवीः = चन्द्रमाकी । कलाः इव = कलाओंकी तरह । सकलाः = सम्पूर्ण । शक्तिरूप सम्पदाओंको । हन्ति = नष्ट कर देता है ॥

घष्पापथः—ननु दुर्बलस्यैवमस्तु, बलीयस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—बलवानिति । बलवान् = शूरोऽपि यः । कोपजन्म यस्य तस्य कोपजन्मनः [= क्रोधोद्गतस्य] ।

‘अवज्यौ बहुव्रीहिव्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः’ इति वामनः । तमसो = मोहस्य । कृद्योगात्कर्तरि षष्ठी । अभिभवम् = आक्रान्ति, न रुणद्धि = न निवारयति । सः = नृपः । क्षयस्य पक्षः क्षय-पक्षः = कृष्णपक्षः । ऐन्दवीः = इन्दुसम्बन्धिनीः कला इव । ‘कला तु षोडशो भागः’ इत्यमरः । सकलाः = समग्राः, [शक्तय एव सम्पदः शक्तिसम्पदः, ताः] शक्तिसम्पदः = प्रभुमन्त्रोत्साह-शक्तीस्तिस्रोऽपि, हन्ति = नाशयति । अन्धस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः । अत्र कालस्य सर्वकारणत्वात्क्षयपक्षस्य कलाक्षयकारित्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्काल-विजृम्भणात्तथा व्यपदेशः ॥ ३७ ॥

वाच्यं—बलवताऽपि येन कोपजन्मनः तमसोऽभिभवो न रुद्धयते तेन नृपेण क्षयपक्षेण ऐन्दव्यः कला इव सकलाः शक्तिसम्पदः हन्यन्ते ॥

भावार्थः—यः राजा बलसम्पन्नोऽपि क्रोधोद्भूतमविवेकं नावरोद्धु पारयति तस्य समग्रा अपि शक्तयः सम्पदश्च कृष्णपक्षे चन्द्रमसः कला इव क्षीयन्ते ॥

भाषार्थ—जो राजा बलवान् होते हुए भी क्रोधसे उत्पन्न अविवेक आदि आक्रमणको नहीं रोक सकता, उसकी सभी शक्तियाँ धीरे-धीरे ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसे कृष्णपक्षमें चन्द्रमाकी कलाएँ क्षीण होती हैं ॥

विशेष—यदि भीम कहें कि दुर्बलके लिये भले ही विवेकसे काम लेना तथा क्रोधका निवारण आवश्यक हो किन्तु बलवान् तो अपने बलसे सारी परिस्थितियोंको अपने अनुकूल कर सकता है ? इसीपर युधिष्ठिरका यह कथन है कि जो क्रोधके आक्रमणको नहीं रोक सकता वह शत्रुके आक्रमणको रोक लेगा, यह कैसे माना जाय । शक्तिसम्पदाका अर्थ है प्रभाव, मन्त्र और उत्साहरूप सम्पदाएँ, अथवा शक्ति और धन सम्पत्ति, दोनों धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं ॥ ३७ ॥

समवृत्तिरूपेति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।

अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—यः, समवृत्तिः, (सन्) समये, मार्दवम्, उपैति, तिग्मतां, च, तनोति, सः, मेदिनीपतिः, विवस्वान्, इव, ओजसा, लोकम्, अधितिष्ठति ॥

पदार्थ—यः = जो । समवृत्तिः (सन्) = समान (न अधिक सरल और न अधिक कठोर) व्यवहारवाला होकर । समये = समय आनेपर । मार्दवं = मृदुताको । उपैति = प्राप्त होता है (और समय आनेपर) तिग्मतां च = कठोरताको । तनोति = बढ़ाता है । स मेदिनीपतिः = वह राजा । विवस्वान् इव = सूर्यकी तरह । ओजसा = (अपने) तेजसे । लोकं = जगत्को । अधि-तिष्ठति = व्याप्त कर लेता है ॥

घण्टापथः—विमृश्य कुर्वतः क्रियाप्रकारमाह—यः सप्ता = नातिमृदुर्नातितिग्मा वृत्ति-र्यस्य स समवृत्तिः सन्, समये = सत्यवसरे, मार्दवं = मृदुवृत्तित्वमुपैति, तिग्मतां = तीक्ष्ण-वृत्तित्वं च तनोति । स [मेदिन्याः पतिः] मेदिनीपतिः [= राजा] विवस्वानिव [= सूर्य इव] ओजसा = तेजसा, लोकमधितिष्ठति = आक्रमति । सूर्योऽपि ऋतुभेदेन सप्तवृत्तिरित्यादि योज्यम् ॥ ३८ ॥

वाच्य०—येन समवृत्तिना समये मार्दवमुपेयते तिग्मता च तन्यते तेन मेदिनीपतिना विवस्वता इव ओजसा लोकः अधिष्टीयते ॥

भाषार्थः—यः राजा मध्यमं मार्गमवलम्ब्य उचिते काले सहनशीलो भूत्वा मृदुतामुपैति अन्यत्र चावसरे तीक्ष्णश्च भवति स एव यथा सूर्यः स्वप्रकाशेन जगद् व्याप्नोति तथा लोकं स्ववशे नियन्तुं शक्नोति ॥

भाषार्थः—जो राजा समय आनेपर सहनशील होकर कोमलताका व्यवहार करता है और समयपर कठोर बन जाता है वही प्रजाको इस प्रकार अपने प्रभावमें रख सकता है जैसे सूर्य जगत्को अपने तेजसे व्याप्त किये रहता है ॥

विशेषः—जैसे सूर्य जाड़ोंमें इतना मृदु हो जाता है कि सब तापनेकी इच्छा करते हैं और ग्रीष्ममें इतना तीक्ष्ण हो जाता है कि कोई सहन नहीं कर सकता, इसी प्रकार राजाको भी गुणवानोंके साथ सरलता और दुर्जनोके साथ तीक्ष्णताका व्यवहार करना चाहिये। सदा सरल ही रहनेवाला और सदा क्रुद्ध ही रहनेवाला राजा प्रजाको वशमें नहीं कर सकता। क्योंकि सरलको प्रजा अभिभूत कर देती है और कठोरसे व्रस्त होकर उसको उखाड़ फेंकनेका यत्न करती है ॥ ३८ ॥

क चिराय परिग्रहः श्रियां क च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।

शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—क्व, श्रियां, चिराय, परिग्रहः, क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता, हि शरदभ्रचलाः, बहुच्छलाः, श्रियः, चलेन्द्रियैः, असुरक्षाः (भवन्ति) ।

पदार्थः—क्व = कहाँ तो । श्रियां = सम्पदाओंका । चिराय = दीर्घकाल तक । परिग्रहः = स्थिर रहना । क्व च = और कहाँ । दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता = दुष्ट इन्द्रियरूप घोड़ोंके वश होना । शरदभ्रचलाः = शरत्कालके बादलोंकी भाँति चंचल । बहुच्छलाः = अत्यन्त कपटपूर्ण । श्रियः = सम्पत्तियाँ । चलेन्द्रियैः = चञ्चल इन्द्रियोंवाले व्यक्तियोंसे । असुरक्षाः = सुरक्षित नहीं रह सकती ॥

घटापथः—उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—क्वेति । श्रियां = सम्पदां, चिराय = बहुकालं, परिग्रहः = स्वायत्तीकरणं क्व ? इन्द्रियाणि वाजिन इवेति समासः । दुष्टानाम् = अमार्गधाविनाम्—इन्द्रियवाजिनां वश्यो = वशगतस्तस्य भावस्तत्ता क्व ? नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः ? । हि = यस्मात् [शरदः शरदि वा अत्रं शरदभ्रं] शरदभ्रचलाश्चच्छलाः । किञ्च [बहूनि छलानि यासु यासां वा ताः] बहुच्छलाः = बहुव्याजाः । बहुरन्धा इति यावत् । 'छलं तु स्वलिते व्याजे' इति विश्वः । श्रियः = संपदः । [चलानीन्द्रियाणि येषां, ते, तैः] चलेन्द्रियैः = अजितेन्द्रियैः । असुरक्षाः = रक्षितुमशक्याः । कथंचित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थः । वाक्यार्थः हेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३९ ॥

वाच्य०—श्रियां चिराय परिग्रहेण क्व भूयते । दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यतया च क्व भूयते । शरदभ्रचलाभिः बहुच्छलाभिः श्रीभिः चलेन्द्रियैरसुरक्षाभिः भूयते ॥

भावार्थः—बहुकालं यावत् श्रियां स्वायत्तीकरणं चपलेन्द्रियतुरङ्गमवश्यता च द्वौ भिन्नावेव मार्गौ । नोभयोः सामानाधिकरण्यं सम्भवति । शरत्कालीनमेघवच्चञ्चलाः कपटरचनापटीयस्यश्च श्रियः अजितेन्द्रियैः कथंचित्प्राप्ता अपि रक्षितुमशक्या भवन्ति ॥

भाषार्थः—चिरकालतक लक्ष्मीको अपने अधीन रखना और चपल इन्द्रियरूप घोड़ों के वशमें होना, दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, जो एक ही व्यक्तिमें नहीं रह सकते । चञ्चल और कपट करानेवाली सम्पत्तियाँ अजितेन्द्रियोंसे सुरक्षित नहीं रखी जाती ।

विशेषः—लक्ष्मीको अपने वशमें रखना और स्वयं चपल इन्द्रियोंके वशमें रहना, परस्पर विरोधी बातें हैं जो एकत्र नहीं रह सकतीं । यह कह कर युधिष्ठिर भीमको यह व्यक्त करते हैं कि तुम यह न समझो कि दुर्योधनने इस समय जिस ऐश्वर्यको पा लिया है वह उसके पास चिरकाल-तक स्थायी रह सकेगा । क्योंकि वह अजितेन्द्रिय व्यक्ति है, ऐसे लोग लक्ष्मीको सुरक्षित नहीं रख सकते । क्योंकि वह शरदभ्रचला है । अर्थात् वर्षाऋतुमें सारा पानी बरस जानेसे बादल शरदमें इतने हलके हो जाते हैं कि थोड़ेसे वायुके झोंकेसे कहाँसे कहाँ पहुँच जाते हैं । इसी प्रकार लक्ष्मी भी इतनी चंचल है कि कब किसके पाससे उड़कर कहाँ- पहुँच जायगी, कोई निश्चय नहीं । असुरक्षा अर्थात् प्राणोंकी बाजी लगाकर उसकी रक्षा करनी पड़ती है, यह भी व्यङ्ग्य है ॥ ३९ ॥

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः ।

क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाऽधरीकृतः ॥ ४० ॥

अन्वयः—उपात्तरंहसः, मनसः, असामयिकं, क्षोभं, वितन्वता, भवता, धीरतया अधरी-कृतः, अपांपतिः, किम्, उच्चकैः, क्रियते ॥

पदार्थः—उपात्तरंहसः = वेगशील । मनसः = मनके, असामयिकं = असमयमें हुए । क्षोभं = विकारको । वितन्वता = प्रकट करते हुए । भवता = आपसे (भीमसे) । (पहिले) धीरतया = धैर्यसे । अधरीकृतः = तिरस्कृत । अपांपतिः = समुद्र, (इस समय) किम् = क्यों । उच्चकैः क्रियते = ऊँचा किया जा रहा है ॥

घण्टापथः—क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—किमिति । [उपात्तं रहो येन तत्—उपात्तरंहः, तस्य] उपात्तरंहसः = प्राप्तत्वरस्य मनसः । समयोऽस्य प्राप्तः—सामयिकः । 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' इति ठञ् । स न भवतीति—असामयिकस्तम् = अप्राप्तकालं वितन्वता [= प्रकटयता] भवता [धीरस्य भावः धीरता, तथा] धीरतया = धैर्यगुणेन; 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं सत्त्वपि हेतुषु' इति रसिकाः । अधरीकृतः = तिरस्कृतः । 'प्रागि' ति शेषः । अपां-पतिः = समुद्रः । किं = किमर्थमुच्चकैः = अधिकः क्रियते ? । न पराजितं पुनरुच्चकैः कुर्यादिति भावः । अथ वितन्वतेति भीमविशेषणत्वेन अपाम्पतिपदार्थस्योच्चैःकरणे हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम-लंकारः ॥ ४० ॥

वाच्यं—उपात्तरंहसः मनसः असामयिकं क्षोभं वितन्वन् भवान् धीरतया अधरीकृतं अपांपतिं किम् उच्चकैः करोति ॥

भावार्थः—सदैव चञ्चलस्य मनसः आकालिकं विकारं प्रकटयन् भवान् स्वधैर्येण प्रथमं तिरस्कृतं सागरं सम्प्रति किमर्थमधिकं करोति । अर्थात् प्रसिद्धमासीत्तव समुद्रादप्यधिकं धैर्यं संप्रति तु त्वया मनःक्षोभेणैतद्विपरीतं किमर्थं विधीयते ॥

भाषार्थः—सर्वदा चञ्चल रहनेवाले मनके असामयिक विकारको प्रकट करते हुए तुम, धैर्यमें तुमसे सदा नीचे कहलानेवाले समुद्रको इस समय ऊँचा क्यों कर रहे हो ॥

विशेषः—“अनधरः अधरः संपद्यमानः कृतः अधरीकृतः” इस अभूततद्भाव अर्थमें च्वि-प्रत्ययसे स्पष्ट होता है कि तुमने ही सर्वप्रथम धैर्यवृत्तामें समुद्रको नीचा दिखाया था । क्योंकि यद्यपि समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता फिर भी उससे लहरें तो उठती ही हैं । भयंकर विपत्तियाँ आनेपर भी तुम्हारे मनमें कभी विकार नहीं उत्पन्न हुआ । इसलिए लोग कहने लगे कि भीम तो समुद्रसे भी अधिक धैर्यवान् है । फिर आज असमयमें क्रोधके विकारोंको प्रकट करके तुम अपने इस अर्जित यशको नष्ट कर रहे हो, यह युधिष्ठिरका अभिप्राय है ॥ ४० ॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः ।

जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—ये, श्रुतम्, अधिगम्य, अपि शरीरजन्मनः, रिपून्, न, विनयन्ते, ते खलु, अचिराय, सम्पदां, चापलाश्रयम्, अयशः, जनयन्ति ॥

पदार्थः—ये=जो व्यक्ति । श्रुतं=शास्त्रको । अधिगम्य अपि=पढ़कर भी । शरीर-जन्मनः=शरीरसे उत्पन्न हुए । रिपून्=(काम क्रोधादि) शत्रुओं को । न विनयन्ते=नहीं हटा सकते । ते खलु=वे निश्चय ही । अचिराय=शीघ्र । सम्पदां=संपत्तियोंके । चापलाश्रयं=चञ्चलतामूलक । अयशः=अपकीर्तिको । जनयन्ति=उत्पन्न करते हैं ॥

घण्टापथः—श्रुतमिति । किञ्च ये श्रुतं=शास्त्रमधिगम्यापि [=अधीत्यापि] [शरीरा-जन्म येषां ते शरीरजन्मानः, तान्] शरीरजन्मनः=शरीरप्रभवान् रिपून्=कामक्रोधादीन् विनयन्ते=न नियच्छन्ति । ‘कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि’ इत्यात्मनेपदम् । ते खल्वचिराय सम्पदां [=वैभवानाम्] । [चपलस्य भावः कर्म वा चापलम्, चापलमाश्रयो यस्य तत्—चापलाश्रयं, तत्] चापलाश्रयम्=अस्थैर्यनिबन्धनमयशः=दुष्कीर्ति जनयन्ति । आश्रयदोषादस्थैर्यं सम्पदां न स्वदोषादित्यर्थः । अजितारिषड्वर्गस्य कुतः सम्पद इति भावः ॥ ४१ ॥

वाच्यः—यैः श्रुतमधिगम्यापि शरीरजन्मानो रिपवः न विनयन्ते तैः खलु अचिराय सम्पदां चापलाश्रयमयशः जन्यते ॥

भावार्थः—शास्त्रमधीत्यापि ये शरीरस्थान् काम-क्रोधादिरिपून् निवारयितुं शक्नुवन्ति तेषां सम्पदः शीघ्रमेव विनष्टा भवन्ति । अतः सम्पदः चलाः इति अयशः तैः प्रवर्त्यते ॥

भाषार्थः—शास्त्र पढ़कर भी जो व्यक्ति शरीरमें उत्पन्न काम क्रोधादि शत्रुओंको नहीं दबा सकते, उनकी संपत्तियाँ शीघ्र नष्ट होकर दूसरोंके पास चली जाती हैं । इसलिए लोग कहते हैं लक्ष्मी चंचल है वह एकके पास स्थिर नहीं रहती ॥

विशेष—पहिले कह चुके हैं—“शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया” शास्त्र शरीरका भूषण है और शान्ति शास्त्रका । अर्थात् शास्त्र पढ़कर भी यदि क्रोधादिको वशमें न कर सके तो वह शास्त्र व्यर्थ ही है । शरीरजन्मनः से व्यक्त होता है कि जो अपने शरीरसे उत्पन्न कामादि पर नियंत्रण नहीं कर सकता वह बाहरी शत्रुओं को कैसे जीत सकेगा ॥ ४१ ॥

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।

जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अतिपातितकालसाधना, स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी, अक्षमा, जनवत्, भवन्तं, नयसिद्धेः, अपनेतुं, न, अर्हति ॥

पदार्थ—अतिपातितकालसाधना=उचित काल और सहायकोंका विघटन करनेवाली । (और) स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी=अपने शरीर तथा इन्द्रियोंको सन्ताप देनेवाली । अक्षमा=अक्षान्ति (क्रोध) । जनवत्=साधारण व्यक्तिकी भाँति । भवन्तं=आप (भीम) को । नयसिद्धेः=मंत्रसिद्धिसे । अपनेतुं न अर्हति=दूर करने योग्य नहीं है ।

घष्टापथः—तथा क्रोधात्कार्यहानिरित्याशयेनाह—अतिपातितेति । अतिपातितानि=अतिक्रान्तानि कालः=समयोऽनुरूपः, साधनानि=सहायादीनि यथा सा तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्तरि ल्युट् । टित्वाण्डीप् । स्वस्य यच्छरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापनी [=स्वकीयदेहेन्द्रियमनस्तापजननी] अक्षमा=क्रोधो भवन्तं जनवत्=पृथग्जनमिव । ‘तेन तुल्यमि’ति वतिप्रत्ययः, तेनेवार्थो लभ्यते । ‘तद्धितश्चासर्वविभक्तिः’ इत्यव्ययम् । [नयस्य सिद्धिः नयसिद्धिः, तस्याः] नयसिद्धेः—नयसाध्यफलादपनेतुं=पृथक्कर्तुं नार्हति । असमय-क्रोधस्यात्मसन्तापातिरिक्तं फलं नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

वाच्यं—अतिपातितकालसाधनया, स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापिन्या, अक्षमया जनवत् भवान् नयसिद्धेः अपनेतुं न अर्हति ॥

भावार्थः—यथोचितावसरस्य सहायकानां च विघटनकारी स्वशरीरस्येन्द्रियसमूहस्य च सन्तापकः क्रोधः साधारणपुरुषवत् भवन्तमपि कार्यसिद्धेर्दूरीकर्तुं न योग्यः । अर्थात् मूर्खजनवत् भवानपि क्रोधवशीभूतः सन् मंत्रसिद्धेर्विरमतीति नैतत्समीचीनम् ॥

भाषार्थ—उचित काल और सहायकोंसे छुड़ानेवाला, अपने शरीर और इन्द्रियोंको सन्ताप देनेवाला क्रोध सामान्य पुरुषकी तरह तुम्हें भी कार्यसिद्धिके मार्गसे हटाये, यह उचित नहीं ॥

विशेष—क्रोधसे मनुष्यकी विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है । उसे यह भान नहीं होता कि कौनसा समय और कौनसे सहायक मेरी कार्यसिद्धिके लिये उचित हैं । शरीर और मनको जो सन्ताप होता है वह अलग से । किन्तु यह अवस्था साधारण व्यक्तियोंकी होनी चाहिये । तुम जैसे शास्त्रज्ञ और विवेकशील व्यक्तिको इस प्रकार क्रोधके वश होकर कार्यसिद्धिके मार्गसे हटना ठीक नहीं, यह युधिष्ठिरके कथनका तात्पर्य है ॥ ४२ ॥

उपकारकमायतेभृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।

अनपायि निवर्हणं द्विपां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—आयतेः, भृशम्, उपकारकम्, भूरिणः, कर्मफलस्य, प्रसवः, अनपायि, द्विपां निवर्हणं, साधनं, तितिक्षासमं नास्ति ॥

पदार्थ—आयतेः=भविष्यका । भृशं=अत्यन्त । उपकारकं=उपकार करनेवाला । भूरिणः=प्रचुर । कर्मफलस्य=कार्यसिद्धिका । प्रसवः=उत्पन्न करनेवाला । अनपायि=निर्दोष । द्विपां निवर्हणं=शत्रुओंका विनाशक । साधनं=उपाय । तितिक्षासमं=सहनशीलताके समान (दूसरा) । न=नहीं है ॥

घण्टापथः—दुष्टः क्रोधः इत्युक्तम् । अथ क्षमाया गुणानाह—उपकारकमिति । आयतेः=उत्तरकालस्य, भृशम्=अत्यन्तमुपकारकम्=स्थिरफलहेतुरित्यर्थः । भूरिणः=प्रभूतस्य, कर्मफलस्य । प्रसवतेऽनेनेति प्रसवः=कारणम् । अपायि न भवतीति—अनपायि=स्वयमविनश्यदेव । द्विपां निवर्हणं=विनाशकमेवं गुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति । 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः । 'तिज निशाने' इति धातोः 'गुप्तिज्जिद्वयः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः । 'तितिक्षासममित्यनुक्तोपमेया समास आर्थी लुप्तोपमा । भृशानपायिशब्दः साधनान्तरवैलक्षण्याद्वयतिरेकश्च व्यज्यते । भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ॥ ४३ ॥

वाच्यं—आयतेः भृशमुपकारकेण, भूरिणः कर्मफलस्य प्रसवेन, अनपायिना, द्विपां निवर्हणेन साधनेन तितिक्षासमेन न भूयते ॥

भावार्थः—भविष्योपकारकर्ता, प्रचुरकार्यसिद्धेः प्रदाता, अविनाशी, शत्रूणां विनाशकश्च तितिक्षवा समो नास्ति कश्चिदुपायोऽन्यः ॥

भाषार्थ—भविष्यको उज्ज्वल बनानेवाला, प्रचुर कार्यसिद्धि करनेवाला, दोषों या विघ्नों से रहित, शत्रुओंका नाश करनेवाला, तितिक्षाको छोड़ कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

विशेष—तितिक्षा शब्द भौवादिक 'तिज' धातुसे क्षमा अर्थमें 'तिजेः क्षमाया' इस वार्तिकके अनुसार 'गुप्तिज्जिद्वयः सन्' सूत्रसे सन् प्रत्यय होकर बनता है । इसका अर्थ होता है सहनशीलता । सुख-दुःख, मान-अपमान आदिको अशक्त होनेसे विवशता पूर्वक सह लेना तितिक्षा नहीं है । सुक्षम शरीरसे इन्हें सहते हुए इनके धर्मोंसे पराभूत न होना ही वास्तविक तितिक्षा है ॥ ४३ ॥

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।

प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—सहजस्नेहनिबद्धचेतसः, मानभृतां, प्रथमे, वृष्णयः, प्रणतिप्रवणान्, नः विहाय, सदा, सुयोधनं, न, प्रणमन्ति ॥

पदार्थ—सहजस्नेहनिबद्धचेतसः=स्वाभाविक स्नेहसे बँधा है चित्त जिनका, ऐसे । मानभृतां प्रथमे=अभिमानीयोंमें अग्रणी । वृष्णयः=यादव लोग । प्रणतिप्रवणान्=सर्वदा झुकते

दुष्ट (अत्यन्त नम्रतासे युक्त) नः = हमको (पाण्डवोंको) । विहाय = छोड़कर । सदा = नित्य । सुयोधनं = सुयोधनको । न प्रणमन्ति = प्रणाम नहीं करेंगे (सदा सुयोधनकी अधीनता स्वीकार नहीं करेंगे) ।

घण्टापथः—ननु तितिक्षया कालक्षेपे दुर्योधनः सर्वान्राज्ञो वशीकुर्यादित्यत्राह—प्रण-
तीति । [सहजस्नेहो स्नेहश्च सहजस्नेहः, सहजस्नेहेन निबद्धं चेतो येषां ते सहजस्नेहनिबद्ध-
चेतसः ।] सहजस्नेहेन = अकृत्रिमप्रेम्णा, निबद्धचेतसः = अस्मासु गाढलग्नचित्ताः । सुयोधने
तु न तथेति भावः । किं च [मानं विभ्रतीति मानभृताः, तेषां] मानभृताम् = अहङ्कारिणां प्रथमे =
अग्रेसराः । सुयोधनस्तु ततोऽपीति भावः । वृष्णयो = यादवाः । [प्रणतौ प्रवणाः प्रणतिप्रवणाः,
तान्] प्रणतिप्रवणान् = प्रणामपरान् । सुयोधनस्तु न तथेति भावः । नः = अस्मान्विहाय,
सुयोधनं सदा न प्रणमन्ति = न नमन्ति । नानुसरन्ति । किंतु कार्यकाले त्यक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः !
सति यादवविग्रहे न किञ्चिदस्माकमसाध्यं भवेदिति भावः । अनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम-
लंकारः ॥ ४४ ॥

वाच्य०—सहजस्नेहनिबद्धचेतोभिः मानभृतां प्रथमैः वृष्णिभिः प्रणतिप्रवणान् नः विहाय
सदा सुयोधनः न प्रणम्यते ॥

भावार्थः—अस्माकं स्वाभाविकस्नेहानुरागाकृष्टचेतसः मानधना यादवाः साम्प्रतं यद्यपि
दुर्योधनस्याधीनतां स्वीकुर्वन्ति किन्तु सदा ते तदायत्ता न स्थास्यन्ति ॥

भावार्थः—हमारे स्वाभाविक स्नेहसे आकृष्ट चित्तवाले और अत्यन्त स्वाभिमानी यादव
लोग इस समय भले ही दुर्योधनकी अधीनता स्वीकार किये हों किन्तु सदा वे उसके सामने झुके
नहीं रह सकते ॥

विशेष—अभी तक तो क्रोधके दोष और क्षमाके गुण ही युधिष्ठिरने बताये हैं । अब
परिस्थितिके अनुसार हम ठीक मार्गपर चल रहे हैं, हमारा भविष्य उज्ज्वल है और दुर्योधनका
ऐश्वर्य चिरस्थायी नहीं रह सकता, यह बता रहे हैं—यादवगण बड़े स्वाभिमानी हैं, दुर्योधन जैसे
उद्धत व्यक्तिके साथ उनका स्नेह नहीं निभ सकता और समय आनेपर वे उसे छोड़कर हमारा पक्ष
लेंगे । क्योंकि हमारे साथ उनका स्वाभाविक स्नेह है और हम सदा झुके रहते हैं । इसलिये हमें
समयकी प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये ।

विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥

अन्वयः—एषां, ये, सहजाः, सुहृदः, तथा, इतरे, मतं, न, विलङ्घयन्ति, ते, आत्मसिद्धये,
धृतराष्ट्रात्मजं, विनयादिव, यापयन्ति ॥

पदार्थः—एषां = इन (यादवों) के । ये सहजाः सुहृदः = जो स्वाभाविक मित्र हैं ।
तथा = और । इतरे = अन्य (कृत्रिम आदि) मित्र हैं । (वे इनके) मतं = मतको । न विलङ्घयन्ति =
उल्लंघन नहीं करेंगे । ते = वे लोग (इस समय) आत्मसिद्धये = अपने लाभके लिये । धृतराष्ट्रा-
त्मजं = दुर्योधनको । विनयाद् इव = नम्रतासे जैसे । यापयन्ति = पेश आ रहे हैं ॥

घण्टापथः—सुहृद इति । किंच एषां = वृष्णीनां ये सहजाः = सहजाताः । मातृपितृपक्षा इत्यर्थः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति उपप्रत्ययः । **सुहृदो** = मित्राणि, तथेतर = कृत्रिमसुहृदश्च, मतं = वृष्णिपक्षं न विलङ्घयन्ति = नातिक्रामन्ति । ते = द्वयेऽपि नृपाः दुर्योधनोपजीविनोऽपीति भावः । [आत्मनः सिद्धिः आत्मसिद्धिः, तस्यै आत्मसिद्धये =] आत्मजीवनार्थं धृतराष्ट्रत्मजं-दुर्योधनं विनयात् = आनुकूल्यादिव यापयन्ति = कालं गमयन्ति । कार्यकाले तु वृष्णिपक्षप्रवेशिन एवेत्यर्थः । यातेर्ण्यन्ताल्लट् । 'अतिही'—इत्यादिना पुगागमः ॥ ४५ ॥

वाच्यं—एषां यैः सहजैः सुहृद्भिः तथा इतरैः (भूयते तैः एषां) मतं न विलङ्घ्यते, तैः आत्मसिद्धये धृतराष्ट्रत्मजः विनयादिव याप्यते ॥

भावायः—स्वाभिमानिनां यादवानां ये स्वाभाविकाः कृत्रिमाश्च सखायः स्युः तेऽपि तथैव कश्चिन्ति यथेते । साम्प्रतं तु स्वार्थसिद्धये दुर्योधनमेते प्रणमन्त इव दरीदृश्यन्ते ॥

भाषार्य—स्वाभिमानी यादवोंके जो सहज और कृत्रिम मित्र हैं वे भी इनके मतका उल्लंघन नहीं करेंगे, क्योंकि इस समय तो वे लोग स्वार्थसिद्धिके लिये उससे मिले हुए हैं ।

विशेष—मित्र दो प्रकारके होते हैं १-सहज और २-कृत्रिम । सहजमित्र वे होते हैं जिनसे किसी खास कारणसे मित्रता नहीं होती प्रत्युत स्वाभाविक स्नेह होता है । जैसे—माता-पिता या अन्य पूर्वजोंके सम्बन्धसे हुए मित्र मामा, चाचा आदि । क्योंकि इनसे हुंआ सम्बन्ध छूट नहीं सकता । कृत्रिम मित्र वे होते हैं जिनसे किसी विशेष कारणसे मित्रता होती है और वह कारण समाप्त होनेपर या उसके विपरीत आचरण करनेपर यह मित्रता तोड़ी जा सकती है । बुध्दिष्ठिरका तात्पर्य है कि यादवगण इसारे सहज मित्र हैं अतः वे किसी भी स्थितिमें हमारा साथ नहीं छोड़ेंगे । उनके जो अन्य भी सहज या कृत्रिम मित्र हैं वे भी उन्हींका साथ देंगे । इस प्रकार हमारी स्थिति सुदृढ़ हो जायगी और दुर्योधनका पक्ष दुर्बल हो जायगी ॥ ४५ ॥

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृतः कृताऽवधेः ।

प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—कृतावधेः, तस्य, भवता, कृतः, अभियोगः, इमान्, महीभुजः, हरिदश्वः, कमलाकरान्, इव, समुत्पतन्, प्रविघाटयिता ॥

पदार्थ—कृतावधेः = की है अवधि (१३ वर्षकी) जिसने ऐसे । तस्य = उस (दुर्योधन) के प्रति । भवता = आपसे (भीमसे) । कृतः = किया हुआ । अभियोगः = अभियान (चढ़ाई) । इमान् महीभुजः = इन (यादवादि) राजाओंको । समुत्पतन् = उदय होता हुआ । हरिदश्वः = सूर्य, कमलाकरान् इव = कमलोंके समूहोंको जैसे । प्रविघाटयिता = विघटित कर देगा ।

घण्टापथः—अभियोग इति । [कृतोऽवधिर्येनाऽसौ कृतावधिः, तस्य] कृतावधेः = परिभाषितकालस्य । 'अवधिस्त्ववसाने स्यात्सीन्नि काले विलेऽपि च' इति विश्वः । तस्य = दुर्योधनस्य । कर्मणि षष्ठी । भवता कृतः । अवधिमनपेक्ष्य इति शेषः । अभियोगः = आद्राभिभव इति यावत् । -अभियोगस्तु शपथे स्यादाद्रे च परामर्शे' इति विश्वः । इमान् = पूर्वोक्तान्महीभुजः राषो हरिदश्वः उष्णरश्मिः, [कमलानामाकराः कमलाकराः तान्] कमलाकरानिव

समुत्पत्तन् = उद्यन्नेव, प्रविघाटयिता = भेत्स्यति । घाटयते भौवादिकाल्लट् । चौरादिकस्य तु 'मितां हस्वः' इति छस्वत्वं स्यात् ॥ ४६ ॥

वाच्य०—कृतावधेः तस्य भवता कृतेन अभियोगेन इमे महीभुजः समुत्पत्तता हरिदश्वेन कमलाकरा इव प्रविघाटयितारः ॥

भावार्थः—त्रयोदशवर्षात्मकमवधि कृतवत्तस्य यद्यस्माभिरन्तरैवाभियोगः करिष्यते चेत् तदानीं ते यादवादय एवमुद्भिन्नाः (कुपिताः) भविष्यन्ति यथा समुद्यन् सूर्यः कमलसमूहान् प्रविघाटयति (विकासयति) ।

भावार्थः—तेरह वर्षकी अवधिसे पूर्व ही यदि हम दुर्योधनपर चढ़ाई कर देंगे तो ये सब राजा हमपर कुपित हो जायेंगे और वे इस प्रकार हमसे भिन्न हो जायेंगे जैसे सूर्यके उदय होनेपर कमलोंके झुण्ड उद्भिन्न (विकसित) हो जाते हैं ।

विशेष—कमलोंके विकसित होनेका राजाओंसे पृथक् होनेसे तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्योदय होनेपर कमल खिलते हैं और उनकी पंखुड़ियाँ एक दूसरेसे पृथक् होने लगती हैं इसी प्रकार वे राजा हमसे पृथक् हो जायेंगे । क्योंकि बिना अवधि दीते चढ़ाई करनेसे हमारे कामको वे अशालीय समझेंगे, इसलिये हमारा साथ न देकर दुर्योधनका ही साथ देंगे ॥ ४६ ॥

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।

सहते न जनोऽप्यधः क्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—मदोद्धतः, सः, नृपतीन्, विलङ्घयन्, उपजापसहान् विधाता । जनः, अपि अधःक्रियां, न, सहते, लोकाधिकधाम, राजकं, किमु ॥

पदार्थः—मदोद्धतः = मदसे उद्धत । सः = वह (दुर्योधन), नृपतीन् = राजाओंको । विलङ्घयन् = तिरस्कृत करता हुआ । उपजापसहान् = भेदके योग्य (दुर्योधनको छोड़कर हटे हुए) । विधाता = कर देगा । (क्योंकि) जनः अपि = साधारण मनुष्य भी । अधःक्रियां = तिरस्कारको । न सहते = नहीं सह सकता । लोकाधिकधाम = सर्वाधिक तेजस्वी । राजकं किमु = राजसमूह कैसे सहेगा ।

घष्ठापथः—अथ ये वृष्णिपक्षास्तान्प्रत्याह—उपजापेति । [मदेन उद्धतः] मदोद्धतः सः = दुर्योधनो नृपतीन् = अन्यानृपांस्विलङ्घयन् = मदादवमानयन् । सहन्त इति सहाः । पचायच् । उपजापस्य सहान् = भेदयोग्यान् । 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः । विधाता = विधास्यति । दधातेलुट् । अवमानितो जनः सुभेध इति भावः । न च ते सहिष्णव इत्याह—जनः = प्राकृतोऽप्यधःक्रियाम् = अपमानं न सहते । [लोकेभ्योऽधिकं धाम यस्य तत्] लोकाधिकधाम = लोकोत्तरप्रतापं, राजकं = राजसमूहः 'गोत्रोऽष्टौ' इत्यादिना बुन्प्रत्ययः । किमु = न सहत इति किं वक्तव्यमित्यर्थः । तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

वाच्य०—मदोद्धतेन तेन नृपतीन् विलङ्घयता (ते) उपजापसहाः विधातारः जनेन अपि अधःक्रिया न सहते लोकाधिकधाम्ना राजकेन किमु ॥

भावार्थः—अत्युद्धतप्रकृतिको दुर्योधनः काले काले स्वाश्रितान् राज्ञोऽवहेल्यिष्यति, अवमानिताश्च ते स्वयं तस्माद्भिन्ना भूत्वाऽस्मत्पक्षमाश्रयिष्यन्ति । यतः सामान्योऽपि जनस्तिरस्कारं न सहते, सर्वाधिकतेजोवतां राज्ञां का कथा ॥

भाषार्थः—धमण्डसे उद्धत हुआ दुर्योधन समय-समयपर उन राजाओंका अपमान करेगा जो इस समय उसकी अधीनता स्वीकार किये हैं । अपमानको न सह सकनेसे वे उसे छोड़ देंगे क्योंकि साधारण व्यक्ति भी अपमान नहीं सह सकता, तेजस्वी राजा लोग कैसे सह लेंगे ।

विशेषः—‘उपांशु जपनमुपजापः’ उपजापका शब्दार्थ होता है कानाफूसी करना, अर्थात् चुपचाप किसीके विरुद्ध पड्यन्त्र रचना । दुर्योधनके द्वारा अपमानित हुए राजा परस्पर एक दूसरेसे मिलकर उसके विरुद्ध हो जायेंगे और सभी उसे छोड़कर हमारे पक्षमें आ मिलेंगे, यह युधिष्ठिरका अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता ।

प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—असमापितकृत्यसंपदाम्, अभिमानशालिनां, विभूतयः, तावता, विनयेन हतवेगं मदं उत्तम्भयितुं प्रभवन्ति ।

पदार्थः—असमापितकृत्यसंपदां = कार्यको पूरा न किये हुए । अभिमानशालिनां = धमण्डी (राजाओंकी) । विभूतयः = सम्पत्तियाँ । तावता = उतने ही । (थोड़ेसे) विनयेन = विनयसे । हतवेगं = नष्ट हो गया है वेग जिसका ऐसे । मदं = मदको । उत्तम्भयितुं = बढ़ानेके लिए । प्रभवन्ति = समर्थ होती हैं ॥

घण्टापथः—ननु ‘सखीनिवे’ त्यादिवनेचरोक्त्या तस्य मदसम्भावनाऽपि कथमित्यत्राह—असमापितेति [कृत्यानां सम्पत् कृत्यसम्पत्, न समापिता असमापिता, असमापिता कृत्यसम्पद् यैस्तेऽसमापितकृत्यसम्पदः, तेषाम्] असमापितकृत्यसम्पदाम् = अकृतकृत्यानामतः [अभिमानेन शालन्ते अभिमानशालिनः, तेषाम्] अभिमानशालिनाम् = अहङ्कारिणां विभूतयः = सम्पद एव तावता = स्वल्पेन विनयेन । कार्यवशादारोपितेनेति शेषः । [हतो वेगो यरथसाँ हतवेगः, तं] हतवेगं = प्रतिबद्धवेगं न तु स्वरूपतो हतं, मदम् = [= गर्वम्] उत्तम्भयितुं = वर्धयितुं, प्रभवन्ति । सर्वदा दुर्जनं सम्पदो विकारयन्तीति भावः ॥ ४८ ॥

वाच्यः—असमापितकृत्यसम्पदाम् अभिमानशालिनां विभूतिभिः तावता विनयेन हतवेगं मदमुत्तम्भयितुं प्रभूयते ॥

भावार्थः—अकृतकृत्यानामहङ्कारिणाञ्च सम्पदः स्वल्पेनापि विनयाभासेनावरुद्धप्रवाहं गर्वं वर्धयितुं समर्थाः भवन्ति ॥

भाषार्थः—कार्यको पूरा न कर सकनेवाले अहङ्कारी राजाओंकी सम्पत्तियाँ, थोड़े ही विनय से भी जिसका प्रवाह रुक जाता है ऐसे मदको बढ़ानेवाली होती हैं अर्थात् वे ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो जाते हैं ।

विशेष—‘अभिमानशालिनां’ यह ‘असमापितकृत्यसम्पदां’ में हेतु है। क्योंकि अहङ्कारी व्यक्ति सभी कामोंको आसानीसे होनेवाले और सभी व्यक्तियोंको अपनी ही कृपापर आश्रित समझते हैं। परिणामस्वरूप किसी कामको प्रयत्नपूर्वक नहीं करते और उनके सारे काम अधूरे रह जाते हैं। जो वास्तवमें नम्र होते हैं उनकी सम्पत्ति चिरस्थायिनी होती है क्योंकि वे उसका सदुपयोग करते हैं जिससे वह बढ़ती जाती है। किन्तु जो नम्रता का ढोंग रचनेवाले हैं उनके मदका वेग भले ही रुका हुआ प्रतीत हो किन्तु स्वरूपतः मदका नाश न होनेसे सम्पत्ति उन्हें उद्धत बना देती है। तात्पर्य यह है कि बनेचरके कथनानुसार दुर्योधन जो इस समय नम्र और ऐश्वर्यवान् प्रतीत होता है वह केवल प्रजाको वशमें करनेके लिये उसका ढोंग मात्र है। वास्तवमें अपने कुटिल स्वभावके कारण वह सम्पत्ति पाकर और भी उद्धत हो जायगा ॥ ४८ ॥

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।

अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—मदमानसमुद्धतं, नृपं, मूढता, नियमेन, न वियुङ्क्ते, अतिमूढः, नयाद्, उदस्यते, नयहीनाद्, जनः, अपरज्यते ॥

पदार्थ—मदमानसमुद्धतं=मद और मानसे अत्यन्त उद्धत । नृपं=राजाको । मूढता=मूर्खता । नियमेन=अवश्य ही । न वियुङ्क्ते=नहीं छोड़ती । अतिमूढः=अत्यन्त अविवेकी । नयाद्=नीतिसे । उदस्यते=छोड़ दिया जाता है । नयहीनाद्=नीतिहीन राजासे । जनः=लोक । अपरज्यते=विरक्त हो जाता है ॥

घट्पाथः—अथ मदस्याऽनर्थहेतुतां युग्मेनाह—मदेति । मदमानाभ्यां=दर्पाहङ्काराभ्यां समुद्धतं [= उच्छृङ्खलं] नृपं मूढता=कार्याऽप्रतिज्ञानं, नियमेन=अवश्यं न वियुङ्क्ते=न विमुञ्चति । अतिमूढो नयाद्=नीतिमार्गादुदस्यते=उत्क्षिप्यते । कर्मकर्तारि लट् । नयहीनाजनोऽपरज्यते=अपराजो भवति । ‘स्वरितञितः—’ इत्यादिनात्मनेपदम् ॥ ४९ ॥

वाच्यं—मदमानसमुद्धतः नृपः मूढतया नियमेन न वियुज्यते । अतिमूढेन नयाद् उदस्यते । नयहीनाद् जनेन अपरज्यते ॥

भावार्थः—औद्धत्येनाहङ्कारेण च निश्चयमेव राजानं मूढताऽविशति मूढश्चाविवेको नयाद् भ्रश्यते । नीतिभ्रष्टाद् नृपात्प्रजाजनः विरक्तो भवति ।

भाषार्थ—उद्धतता और अहङ्कारसे निश्चय ही राजाका विवेक नष्ट हो जाता है । अविवेकी नीतिमार्गसे भ्रष्ट होकर अनीति करने लगता है । अनीति करनेवाले राजासे प्रजा ऊब जाती है और उसे हटानेका प्रयत्न करती है ॥ ४९ ॥

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।

सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरून्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥

अन्वयः—अपरागसमीरणेरितः, क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः, महान्, अपि, रिपुः, (अपरागः, क्रमशीर्णाः) तरुवद्, सहिष्णुना, उन्मूलयितुं, सुकरः ॥

पदार्थ—अपरागसमीरणेरितः=द्वेषरूपवायुसे प्रेरित । क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः=क्रमसे विकीर्ण और आकुल है प्रजा और स्वजनोका समूह जिसका ऐसा । महान् अपि=शक्तिशाली

भी । रिपुः = शत्रु । (अपरागसमीरणेरितः = पराग (धूलि) रहित वायु (झञ्झावात) से कम्पित । क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः = धीरे-धीरे सड़ जानेसे अशक्त हो गई है जहाँ जिसकी, ऐसा । महान् = बहुत बड़े । तरुवत् = वृक्षकी तरह । सहिष्णुना = क्षमावान् पुरुषद्वारा । उन्मूलयितुं = उखाड़नेके लिये । सुकरः = आसान होता है ॥

घष्ठापथः—अपरागेति । अपरागः = अप्रीतिः, द्वेष इति यावत् । समीरणः [= वायुः] इव । तेन ईरितः = चोदितः । अत एव क्रमेण शीर्णः = क्षीणीभूता आकुला = चला च [मूलानां सन्ततिः] **मूलसन्ततिः** = प्रकृत्यादिस्वजनवर्गः, शिफासंघातश्च यस्य स तथोक्तः 'मूलं वशीकृते स्वीये शिफाताराऽन्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । **रिपुर्महानपि तरुवत् = वृक्ष** इव । [सहते तच्छीलः सहिष्णुः, तेन] **सहिष्णुना** = क्षमावता । **उन्मूलयितुम् = उद्धर्तुं**, **सुकरः = सुसाध्यः**, सुकरोन्मूलन इत्यर्थः । अत्र मदादेः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्कारणमाला, तरुवदित्युपमा चेति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ५० ॥

वाच्यं—अपरागसमीरणेरितेन, क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिना, महताऽपि रिपुणा तरुवद् उन्मूलयितुं सुकरेण भूयते ॥

भावार्थः—यथा झञ्झावातवेगाघातेन कम्पमानः अतएव शनैः शनैः शिथिलीभूय दुष्यमानाशिफासमूहो वृक्षः जनेनोत्पाटयितुं सुकरो भवति तथैव द्विषद्भिः प्रजाभिर्मन्त्रिवर्गैश्च पीडितः परित्यक्तश्च रिपुः समयं प्रतीक्षमाणेन शान्तिमता राज्ञा जेतुं सुकरः ॥

भाषार्थ—जैसे झञ्झावातसे हिलया गया और धीरे-धीरे जहाँ जिसकी खोखली हो रही है ऐसा महान् वृक्ष भी आसानीसे उखाड़ा जा सकता है, ऐसे ही द्वेषरूप वायुसे प्रेरित और प्रजा एवं मंत्री आदि जिसके शिथिल एवं विरक्त-से हो गये हैं ऐसा शत्रु भी समयकी प्रतीक्षा करते हुए राजा द्वारा शीघ्र नष्ट कर दिया जा सकता है ॥

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतप्रकोपजः ।

अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिवर्पजोऽनलः ॥ ५० ॥

अन्वयः—अणुः, अपि, अन्तःप्रकृतिप्रकोपजः, विग्रहः, प्रभुम्, उपहन्ति, हि, तरुशाखान्तनिवर्पजः, अनलः, अखिलं, भूधरं, हिनस्ति ॥

पदार्थ—अणुः अपि = थोड़ा-सा भी । अन्तःप्रकृतिप्रकोपजः = अन्तरङ्गप्रजा (अमात्यादि) के क्रोधसे उत्पन्न । विग्रहः = वैर । प्रभुम् = राजाको । उपहन्ति = नष्ट कर देता है । हि = क्योंकि । तरुशाखान्तनिवर्पजः = वृक्षशाखाओंकी नोकोंकी रगड़से प्रकट हुई । अनलः = अग्नि । अखिलं भूधरं = सारे पहाड़को । हिनस्ति = (जलाकर) नष्ट कर देती है ॥

घष्ठापथः—अणुरिति । अणुः = अल्पोऽपि । [अन्तःप्रकृतीनां प्रकोपः, अन्तःप्रकृति-प्रकोपः, अन्तःप्रकृतिप्रकोपाज्जातः] अन्तःप्रकृतिप्रकोपजः = अन्तरङ्गामात्याद्यपरागसमुत्थः । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्तवामात्यादिकेष्वपि ॥' इति वैजयन्ती । विग्रहः = वैरं, प्रभुम् [= राजानम्] उपहन्ति = नाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह—[तरुणां शाखाः, तरुशाखाः, तरुशाखानामन्ताः तरुशाखान्ता] तरुशाखान्तानां निवर्पः = वर्पणं

तज्जः अनलः = अग्निः । भूधरं = गिरिमखिलं = साकल्येन, हिनस्ति हि = दहतीत्यर्थः ।
अत्रोपमानोपमेयसमानधर्माणां प्रतिबिम्बतया निर्देशेन दृष्टान्तालङ्कारः ॥

वाच्य०—अशुनापि अन्तःप्रकृतिप्रकोपजेन विग्रहेण प्रभुः उपहन्यते, हि तरुशाखान्तनिघर्ष-
जेन अनलेन अखिलः भूधरः हिंस्यते ॥

भाषार्थः—स्वल्पेनापि अमात्यपुरोहिताद्यन्तरङ्गजन-प्रकोपजेन वैरेण राजा तथैव
विनश्यति यथा स्वल्पोऽपि पादपशाखान्तसंघर्षोत्पन्नो बहिः न केवलं पादपानेव किन्तु सकलं पर्वतं
दग्ध्वा नाशयति ॥

भाषार्थ—अमात्यपुरोहितादिके क्रोधसे उत्पन्न वैर राजाको नष्ट कर देता है, क्योंकि
वृक्षोंकी शाखाओंके अग्र भाग जब परस्पर टकराते हैं तो उनके संघर्षसे उत्पन्न अग्नि केवल वृक्षोंको
ही नहीं सारे पहाड़को ही जला डालती है ॥

विशेष—उपर्युक्त दोनों पक्षोंसे युधिष्ठिरका तात्पर्य है कि हम मंत्रसिद्धिके चार उपायों
(साम, दाम, दण्ड, भेद) में भेद (चौथे उपाय) से काम ले रहे हैं । हमारे सुप्तचर दुर्योधनके
राज्यमें जाकर भीतर ही भीतर उसकी जड़ें खोखली कर रहे हैं । यदि इस समय हमने शीघ्रता
की तो उसे सँभलनेका अवसर मिल जायगा, क्योंकि अवधिसे पूर्व ही आक्रमण करनेसे लोग हमें
दोषी ठहराकर हमारा साथ नहीं देंगे और उसकी प्रजामें फूट न होनेसे हम उसे परास्त भी नहीं
कर पायेंगे । इसलिये प्रतीक्षा करना ही उचित है ॥ ५१ ॥

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विपः ।

सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—मतिमान् विनयप्रमाथिनः द्विपः, समुन्नतिं, समुपेक्षेत, तादृग्, अन्तरे, सुजयः,
खलु, हि, अविनीतसम्पदः, विपदन्ताः ॥

पदार्थ—मतिमान् = बुद्धिमान् (व्यक्ति) । विनयप्रमाथिनः = दुर्विनीत । द्विपः =
शत्रुकी । समुन्नतिं = उन्नति की । समुपेक्षेत = पूर्ण उपेक्षा करे । तादृक् = ऐसा (दुर्विनीत)
शत्रु । अन्तरे = समय आनेपर । सुजयः खलु = आसानीसे जीतने योग्य होता है । हि =
क्योंकि । अविनीतसम्पदः = दुर्विनीत राजाकी सम्पदाएँ । विपदन्ताः । (भवन्ति) = विपत्ति में
समाप्त होनेवाली होती हैं ॥

घण्टापथः—तथाऽपि 'कथं वर्द्धमानं शत्रुमुपेक्षते' त्याशङ्क्य दुर्विनीतत्वादित्याह—मति-
मानिति । मतिमान् = प्राणः । 'विनयं प्रमथ्नातीति [तस्य] विनयप्रमाथिनः = दुर्विनीतस्य
द्विपः समुन्नतिं = वृद्धिं समुपेक्षेत [= नाद्रियेत] । उपेक्षायाः फलमाह—तादृक् अविनीतः ।
अन्तरे = क्वचिदन्तरे । सुजयः = सुखेन जेतुं शक्यः खलु । हि यस्माद् [न विनीतः
अविनीतः, अविनीतस्य सम्पदः] अविनीतसम्पदो [विषद् अन्तो यासां ताः] विपदन्ताः =
विपन्नमर्यादकाः । अनर्थोदका इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

वाच्य०—मतिमता विनयप्रमाथिनः द्विपः समुन्नतिः समुपेक्षेत । तादृशा सुजयेन
(भूयते) । हि अविनीतसम्पदभिः विपदन्ताभिः (भूयते) ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् जनः दुर्विनीतस्य शत्रोः समृद्धिं समुपेक्षेत । तादृशः कस्मिंश्चिदवसरे सुखेन जेतुं शक्यो भवति । यतोहि दुर्विनीतानां सम्पदोऽनर्थहेतुकाः भवन्ति ॥

भाषार्थः—बुद्धिमान् राजाको उद्धत शत्रुकी बढ़ती हुई सम्पत्तिकी भी उपेक्षा करनी चाहिये । ऐसा व्यक्ति कभी भी जीता जा सकता है क्योंकि दुर्विनीतोंकी सम्पत्ति आपत्ति आने पर विनष्ट होनेवाली ही होती है ॥

विशेष—भीमने कहा था—“जो शत्रुको बढ़ते हुए प्रभावकी उपेक्षा करता है उससे लक्ष्मी लोकापवादकी डरसे जैसे दूर हो जाती है (श्लोक १०)” इसीका उत्तर युधिष्ठिर ने दिया है कि यदि शत्रु विनीत हो और उसका ऐश्वर्य बढ़ रहा हो तब वह चिन्ताका विषय हो सकता है, किन्तु दुर्विनीत शत्रुकी तो ज्यों-ज्यों प्रभुता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसकी सम्पत्ति परिणाममें उसे विपत्ति देनेवाली ही होती है । क्योंकि सम्पत्तिसे उसका अविवेक बढ़ता जाता है और वह अनीति करने लगता है जिससे प्रजा रुष्ट हो जाती है । यह पहिले बता चुके हैं ॥ ५२ ॥

लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।

अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—लघुवृत्तितया, बहिः, अन्तः, च, भिदां, गतं, नृपस्य, मण्डलम्, अनन्तरः, आपगारयः, शिथिलं नदीकूलम्, इव अभिभूय, हरति ॥

पदार्थः—लघुवृत्तितया = (अविनयके कारण) व्यवहारमें कमी आ जानेसे । बहिः = बाहर (मित्रों, सामान्य प्रजा आदिमें), अन्तश्च = और अन्दर (अमात्य पुरोहितादिमें) भी । भिदां गतं = भेद (अव्यवस्था या फूट) को प्राप्त । नृपस्य मण्डलं = राजाके राष्ट्रको । अनन्तरः = समीपवर्ती (राजा) आपगारयः = नदीका वेग । शिथिलं = भीतरसे पोले । नदीकूलम् इव = नदीके तटको जैसे । अभिभूय = आक्रान्त करके । हरति = नष्ट कर देता है ॥

घण्टापथः—कथं दुर्विनीतस्य शत्रोः सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादित्याह—लघ्विति । [लघ्वी वृत्तिर्यस्यातो लघुवृत्तिः लघुवृत्तेर्भावी लघुवृत्तितया] लघुवृत्तितया = स्वस्य दुर्वृत्तिरूपतया । बहिः = मित्रादिजनपदेषु । अन्तः = अमात्यादिषु च । भिदां = भेदं, गतम् [= प्राप्तम्] । ‘विद्भिदादिभ्योऽङ्’ इत्यङ्प्रत्ययः । नृपस्य मण्डलं = राष्ट्रमनन्तरः = सन्निहितो जिगीषुः [आपगाया रयः] आपगारयो = नदीवेगः शिथिलम् = अन्तर्भेदजर्जरं, कूलमिवाभिभूय = आक्रम्य हरति ।

वाच्यं—लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलं अनन्तरेण आपगारयेण शिथिलं नदीकूलमिव अभिभूय ह्रियते ॥

भावार्थः—जलाघातशिथिलं कूलं यथा नदीवेगः प्रसङ्ग निपातयति तथैव दुर्विनीतस्य राजोऽन्तर्बहिश्चामात्यादिविरोधेन शिथिलं राष्ट्रं सन्निहितोऽन्यो विजिगीषुः आक्रम्य हरति

भाषार्थः—जिसके बाहरी मित्रमण्डल और भीतरी मंत्री आदि विरुद्ध हो जाते हैं उस राजाके शिथिल हुए राज्यको, घातमें बैठा समीपवर्ती राजा ऐसे आक्रमण करके हर लेता है जैसे पानी के आघातसे पोले किनारेकी नदीका वेग बहा लेता है ॥ ५३ ॥

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।

स्वयमर्थं इवाभिवान्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—इति, आकुलम्, अर्जुनाग्रजं, अनाकुलं, नयवर्त्म, अनुशासतं, तं पराशरात्मजः, स्वयम्, अभिवान्छितः, अर्थः, इव अभीयाय ॥

पदार्थः—इति=इस प्रकार । आकुलं=व्यग्र हुए । अर्जुनाग्रजं=भीमसेन को । अनाकुलं=असङ्कीर्ण (विशद) । नयवर्त्म=नीतिमार्ग । अनुशासतं=सिखाते हुए । तं=युधिष्ठिरको । पराशरात्मजः=व्यासभगवान् । स्वयं=अपने आप । अभिवान्छितः=अभिलषित । अर्थ इव=मनोरथकी तरह । अभीयाय=प्राप्त हुए ॥

घण्टापथः—इति=इत्थम् । आकुलम्=अरिणिकारस्मरणात्क्षुभितम् । [अर्जुनस्य—अग्रजः अर्जुनाग्रजः, तम्] अर्जुनाग्रजं=भीमसेन, [नयस्य वर्त्म नयवर्त्म, तत्] नयवर्त्म=नीतिमार्गम् [नास्ति आकुलं यस्मिन् कर्मणि तत्] अनाकुलम्=असङ्कीर्णं यथा तथाऽऽनुशासतम्=उपदिशन्तम् । ‘जक्षित्यादयः पट्’ इत्यभ्यस्ताच्छतुर्नुमभावः । तं=युधिष्ठिरं [पराशरस्य आत्मजः] पराशरात्मजो=वेदव्यासः । स्वयमभिवान्छितोऽर्थ इव । साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा । अभीयाय=प्राप्तः ॥ ५४ ॥

वाच्यं—इति आकुलमर्जुनाग्रजमनाकुलं नयवर्त्मानुशासत युधिष्ठिरः स्वयमभिवान्छितेनार्थेन इव पराशरात्मजेन अभीये ॥

भाषार्थः—इत्थं व्यग्रं भीमसेनं यदा युधिष्ठिरो विशदरूपेण नीतिमार्गं शिक्षयन् आसीत्तदानीमेव भगवान् व्यासस्तत्रैवाजगाम यथा कश्चिदभीष्टोऽर्थः स्वयमेव प्राप्तो भवेत् ।

भाषार्थः—इस प्रकार अत्यन्त व्यग्र भीमसेनको विशदरूपसे नीतिमार्गका उपदेश युधिष्ठिर दे ही रहे थे कि भगवान् व्यास वहाँ ऐसे आ पड़े, जैसे किसी पदार्थको हम चाहते हों और वह बिना किसी प्रयत्नके स्वयं ही हमारे पास आ जाय ॥ ५४ ॥

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।

परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—मधुरैः, निरीक्षितैः, अवशानि, अपि, तिर्यञ्चि, शमं, लम्भयन्, परितः, पटु, एनसां, दहनं, विलोकनक्षमं, धाम, बिभ्रत्, (मुनिः ददृशे) ॥

पदार्थः—मधुरैः=शान्त । निरीक्षितैः=दृष्टियोंसे । अवशानि=जिनका अपनेपर कोई बश नहीं ऐसे (अर्थात् क्रूर) । तिर्यञ्चि अपि=पशुपक्षियोंको भी । शमं=शान्ति । लम्भयन्=देते हुए । परितः=चारों ओर । पटु=उज्ज्वल । (और) एनसां=पार्ष्णीका । दहनं=दाह करनेवाला (होनेपर भी) । विलोकनक्षमं=देखने योग्य । धाम=तेजको । बिभ्रत्=धारण करते हुए (व्यासजी दिखाई दिये) ॥

घण्टापथः—अथ युग्मेनाह—मधुरैरिति । मधुरैः=शान्तैः निरीक्षितैः=अवलोकनैः । नपुंसके भावे क्तः । न विद्यते वशमायत्तत्वं येषां तानि—अवशानि=प्रतिकूलानि । ‘वशमायत्ततायां च’ इति विश्वः । तिर्यञ्चि=मृगपक्ष्यादीनि । शमं=शान्ति, लम्भयन्=प्रापयन् ।

‘लभेश्व’ इति नुमागमः । ‘गत्यर्थ’—इत्यादिना दिकर्मकत्वम् । परितः=[सर्वतः] पटु=उज्ज्वलम् । एनसाम् [= पापानाम्] । दहतेऽनेनेति दहनं=निवर्तकं, तथापि [विलोकने क्षमं] विलोकनक्षमं=दर्शनीयं । बह्म्यादिविलक्षणमिति भावः । धाम=तेजो विभ्रत [= दधत्] ।

वाच्य०—मधुरैः निरीक्षितैः अवशानि अपि तिर्यञ्चि शमं लम्भयन्तं परितः पटु एनसां दहनं विलोकनक्षमं, धाम विभ्रतं (मुनि ददर्श) ॥

भावार्थः—स्वकीयकृपापूर्णे विलोकनैः आश्रमस्थान् परस्परविरोधिनांऽपि मृगपक्ष्यादीन् क्रूरस्वभावान् जन्तून् कुर्वन् जनानां पापदाहकत्वात् ज्वलनोपममपि दर्शनाहं तेजो विभ्रत महामुनिः व्यासः राज्ञा ददृशे ॥

भाषार्थ—अपनी कृपादृष्टिके प्रसारसे आश्रमस्थ क्रूर पशु-पक्षियोंको भी शान्त करते हुए और मनुष्योंके पापको भस्म करनेकी क्षमता होनेपर भी देखने योग्य तेजको धारण करते हुए महर्षिब्यासको राजाने देखा ॥

विशेष—वास्तविक रूपसे अहिंसाके साधककी यह स्थिति होती है कि उसके दर्शनसे दूसरे हिंसक स्वयं ही हिंसासे निवृत्त हो जाते हैं । इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रमें कहा है—“अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्तन्निधौ वैरत्यागः” । महामुनि व्यास भी वास्तविक योगी हैं, अतः उनकी दृष्टि पड़ते ही द्वैतवनके पशुपक्षी भी अपना वैर भूलकर शान्त हो जाते हैं । जब अज्ञानी पशु-पक्षियोंकी यह दशा है तो ज्ञानवान् और विचारशील मनुष्यकी तो बात ही क्या है ? इसलिये कोषसे अत्यन्त व्यग्र भीमका भी इनके दर्शनसे अज्ञान दूर हो जायगा, यह व्यक्त है ॥ ५५ ॥

सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम् ।

ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सहसा, उपगतः, तपसां, सूतिः, आपदाम्, असूतिः, स मुनिः, वपुष्मान्, पुण्यसञ्चयः, इव, जगतीभुजा, सविस्मयं, ददृशे ॥

पदार्थ—सहसा उपगतः=अकस्मात् प्राप्त । तपसां सूतिः=तपस्याओंका हेतुभूत, (और) आपदामसूतिः=आपत्तियोंका निवारक । स मुनिः=वह भगवान् व्यास । वपुष्मान्=देहधारी । पुण्यसञ्चय इव=पुण्योंके ढेरकी तरह । जगतीभुजा=राजासे । सविस्मयं=आश्चर्यके साथ । ददृशे=देखे गये ।

घष्ठापयः—सहसेति । पुनः—सहसोपगतः=अकस्मादागतः । तपसां सूतिः=प्रभवः । आपदामसूतिः=अप्रभवः । निवर्तक इति यावत् । सः=मुनिव्यासो वपुष्मान्=देहधारी [पुण्यानां सञ्चयः पुण्यसञ्चयः=] पुण्यराशिरिवेत्युत्प्रेक्षा । [जगती भुनक्तीति जगतीभुक्, तेन] जगतीभुजा=राज्ञा, [विस्मयेन सहेति सविस्मयं यथा स्यात्तथा] सविस्मयं=साश्चर्यम् ददृशे=दृष्टः ।

वाच्य०—सहसोपगतं, तपसां सूतिमापदामसूतिं तं मुनिं वपुष्मन्तं पुण्यसञ्चयमिव जगतीभुक् ददर्श ॥

भावार्थः—अकस्मादुपरिस्थितं तपःप्रभवमापन्निवारकं च महामुनिं व्यासं राजा युधिष्ठिरः मूर्तिमन्तं पुण्यराशिमिव साश्चर्यमवलोकयामास ॥

भाषार्थः—सहसा प्रकट हुए, तपस्याओंको उत्पन्न करनेवाले और आपदाओंके निवारक उन व्यासजीको राजाने आश्चर्यपूर्वक ऐसा देखा मानों सारे पुण्य देह धारण कर सामने आ गये हों ॥

विशेषः—सहसा प्रकट होनेसे व्यासजीकी योगशक्तिका चमत्कार व्यक्त होता है। मूर्तिमान् पुण्यसंचयका तात्पर्य है कि जब पुण्य उदय होते हैं तब मनुष्यका कल्याण ही कल्याण होता है। इसलिये भगवान् व्यासके दर्शनसे भी अब भविष्यमें शुभ फलोंकी प्राप्ति अवश्य होगी। क्योंकि व्यासजी उन तपस्याओंके जनक हैं जिनसे पुण्य होता है और आपत्तियोंके निवारक भी हैं अतः उनके दर्शनसे अवश्य ही उज्ज्वल भविष्यकी आशा होगी ही। इसलिये 'सविस्मयं' विशेषण दिया है। व्यासजीके सहसा आगमनसे युधिष्ठिरको आश्चर्य होता है, क्योंकि राज्यसे च्युत होकर जङ्गलोंकी खाक छानते हुए और शत्रुओं द्वारा अपमानित होनेसे विपद्ग्रस्त युधिष्ठिरको व्यासजीका दर्शन होना ऐसा ही था जैसे किसी दरिद्रको चिन्तामणि मिल जाना। इन विपदाओंका सहसा अन्त भी हो जायगा ऐसा विपत्तिमें पड़ा मनुष्य नहीं सोचता। इसलिये दुःखसमूहोंका नाश करनेवाले व्यासजीका आगमन उन्होंने विस्मयसे देखा ॥ ५६ ॥

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स भूतारुणवल्कलाग्रः ।

रराज कीर्णाऽऽकपिशंशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अथ, उच्चकैः, परार्ध्यात्, आसनतः, उद्यन्, भूतारुणवल्कलाग्रः, सः, कीर्णा-कपिशंशुजालः, शृङ्गात्, तिग्मरश्मिः, इव, रराज ॥

पदार्थः—अथ = इसके बाद। उच्चकैः = ऊँचे। परार्ध्यात् = अत्युत्तम। आसनतः = आसनसे। उद्यन् = उठते हुए। (अतएव) भूतारुणवल्कलाग्रः = हिल रहे हैं लाल-लाल वल्कल-वृक्षोंके छोर जिनके, ऐसे। सः = वह (राजा युधिष्ठिर)। कीर्णाकपिशंशुजालः = पीली पीली किरण समूहोंको बिखेरते हुए। (और) सुमेरोः शृङ्गात् (उद्यन्) = मेरु पर्वतकी चोटीसे उदय होते हुए। तिग्मरश्मिः इव = सूर्यकी तरह। रराज = शोभित हुए ॥

घट्टापथः—अथेति। अथ = दर्शान्तरम्। [उच्चैरेव] उच्चकैः = उन्नतात्। परार्ध्यात् = श्रेष्ठात्। 'अर्धाद्यत्'। 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः। - आसनतः = सिंहासनात्। उद्यन् = उत्तिष्ठन्। अतएव-भूतानि = कम्पितान्यरूपानि [= रक्तानि] वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः। सः = नृपः। कीर्णं = विरतुतम् [आ समन्तात्] कपिशं [= पिङ्गलम्] अंशुजालं यस्य स तथोक्तः। सुमेरोः शृङ्गाद् [= शिखरात्] उद्यन् [= निर्गच्छन्] [तिग्मरश्मयो यस्यासौ] तिग्मरश्मिः [= सूर्यः] इव रराज।

वाक्य०—अथ उच्चकैः परार्ध्यादासनत उद्यता भूतारुणवल्कलाग्रेण तेन कीर्णाकपिशंशुजालेन सुमेरोः शृङ्गादुद्यता तिग्मरश्मिना इव रेजे ॥

भावार्थः—महामुनि दृष्ट्वा समुन्नतात्सिंहासनादुत्तिष्ठन् कम्पितारुणभूर्जादिवल्कलवल्काग्रः स युधिष्ठिरः सुमेरुशृङ्गादुद्गच्छन् विकीर्णपत्कपिलप्रभामण्डलः सूर्यं श्व शुशुभे ॥

भाषार्थ—व्यासकी देखकर ऊँचे सिंहासनसे उठते समय लाल-लाल वल्कलवल्कोंके छोरोंको हिलाते हुए युधिष्ठिर सुमेरु पर्वतकी चोटीसे उदय होते समय कुछ कुछ लाल किरणोंके समूहको बिखरते हुए सूर्य जैसे सुन्दर लगते थे ॥

विशेष—व्यासजीको सहसा सामने देखकर उनके प्रति आदर प्रकट करते हुए युधिष्ठिर हड़बड़ाकर आसनसे उतर पड़े, इसीमें लाल लाल वल्कलमय वस्त्र हिलकर फैलने लगे। यही धूतारुणवल्कलाग्र का भाव है। ऊँचे आसनकी उपमा सुमेरुसे, वल्कलोंकी लालिमाकी उपमा सूर्यकी बिखरती किरणोंसे और युधिष्ठिरकी उपमा सूर्यसे दी गई है ॥

यह उपेन्द्रवज्रा छन्द है। इन्द्रवज्रा छन्दमें प्रथम वर्णकी मात्रा लघु करनेसे वह उपेन्द्रवज्रा कहलाती है। इन्द्रवज्राका लक्षण है—‘स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः’ और ‘उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा’ ॥ ५७ ॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हाम्युपिवदधिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।

तदनुमतमलञ्चकार पश्चात्प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अवहितहृदयः, स, नरेन्द्रः, ऋषिप्रवरे, ऋषिवद्, गुरूपदिष्टां, अर्हा, विधाय, पश्चात्, तदनुमतं, आसनं, प्रथमः, श्रुतम्, इव, अलञ्चकार ॥

पदार्थ—अवहितहृदयः=सावधान हो गया है चित्त जिनका, ऐसे। स नरेन्द्रः=वह युधिष्ठिर। ऋषिप्रवरे=ऋषियोंमें श्रेष्ठ (व्यासजी) की। ऋषिवद्=ऋषियोंके योग्य। अर्हा=पूजा को। विधाय=करके। पश्चात्=तब। तदनुमतं=उनके (व्यासजीके) बताये हुए। आसनं=आसनको। प्रशमः=शान्ति। श्रुतम् इव=शास्त्रको जैसे (शोभित करता है ऐसे), अलञ्चकार=शोभित किये ॥

वृष्ठापथः—अवहितेति । स [नराणाम् इन्द्रः] नरेन्द्रः । [अवहितं हृदयं यस्यासौ] अवहितहृदयः अप्रमत्तचित्तः सन् । [ऋषिषु प्रवरः ऋषिप्रवरः, तस्मिन्] ऋषिप्रवरे । [ऋषीणामर्हा इति] ऋषिवद् ऋष्यर्हाम् । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । [गुरुणा-उपदिष्टा गुरूपदिष्टा तां] गुरूपदिष्टाम्=शास्त्रीयामित्यर्थः । अर्हा=पूजाम् । ‘गुरोश्च हलः’ इत्यकारप्रत्ययः । विधाय । पश्चात्=अनन्तरं, [तेन अनुमतं, तत्] तदनुमतं=तेनानुज्ञातम् । आसनम् [=पीठम्] । प्रशमः=शान्तिः, श्रुतं=शास्त्रश्रवणमिव । अलञ्चकार [=शोभयामास] । उक्तं च—‘प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया’ इति । मुन्याश्चयोपविष्टवानित्यर्थः ॥ ५८ ॥

वाच्यं—अवहितहृदयेन तेन नरेन्द्रेण ऋषिप्रवरे ऋषिवद् गुरूपदिष्टां अर्हा विधाय पश्चात् तदनुमतमासनं प्रशमेन श्रुतमिवालञ्चके ॥

भावार्थः—सावधानेन मनसा राजा युधिष्ठिरः ऋषिप्रवरस्य व्यासस्य मुन्यर्हा शास्त्रोपदिष्टां पूजां कृत्वा तदनन्तरं मुनिना दत्ताश्वः स्वासनमेव शोभयामास यथा प्रशमेन शास्त्रमलंकियते ॥

भाषार्थ—राजा युधिष्ठिरने सावधान होकर महर्षि व्यासकी ऋषिजनोचित और शास्त्रोक्त पूजा की। इसके बाद व्यासजीकी आज्ञासे अपने आसनको ऐसे सुशोभित किया, जैसे शान्ति शास्त्रको अलंकृत करती है।

विशेष—जैसे शास्त्रोंका अध्ययन कर लेनेके बाद मनुष्य शान्त हो जाता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं—‘प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया’। उसी प्रकार व्यासजीकी पूजा करके उनकी आज्ञासे युधिष्ठिर भी शान्त होकर अपने आसनपर आ विराजे—यह तात्पर्य है। इस श्लोकमें कविने युधिष्ठिरके द्वारा व्यासजीकी पूजासे किसी भी पूजा या सत्कार करनेका उत्तम विधान प्रदर्शित किया है। पूजा या सत्कार करनेवाला व्यक्ति स्वयं सावधान चित्त होकर पूजा करे, क्योंकि अशान्त चित्तसे किया हुआ कोई भी कार्य सफल नहीं होता। जो जिस योग्य हो उसकी वैसी ही अर्चना करे (ऋषिवट्टपिप्रवरे से यह व्यक्त होता है)। साथ ही वह पूजा ऐसी होनी चाहिए जो शास्त्र और सदाचार सम्मत हो अर्थात् देशकाल और पात्र के अनुसार जैसी मर्यादा है वैसी ही पूजा या सत्कार भी उचित होता है ॥

यह पुष्पिताया वृत्त है इसके लिये देखिये प्रथम सर्ग श्लोक ४५ का विशेष ॥ ५८ ॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-

स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्ना ।

तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं

लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाकविभारविकृतौ किराताजुनीये द्वितीय सर्गः ॥

अन्वयः—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठः, विकीर्णधाम्नः मुनेः, अभिमुखं, तिष्ठन्, स, इद्धम्, अंशुजालं, तन्वन्तं, गुरुम्, अभितः, सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः, लक्ष्मीम्, उवाह ॥

पदार्थ—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठः—स्पष्ट निकलते हुए गृद्ध हास्य (मुसकान) से चमक रहे हैं ओठ जिसके ऐसे । (और) विकीर्णधाम्नः = तेजकी फैलाते हुए । मुनेः = व्यासजीके । अभिमुखं तिष्ठन् = सामने स्थित हुए । सः = वह युधिष्ठिर । इद्धं = दीप्त । अंशुजालं = किरणसमूहको । तन्वन्तं = फैलाते हुए । गुरुं = बृहस्पतिके । अभितः = सामने (स्थित) । सकलस्य = सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त । शशाङ्कमूर्तेः = चन्द्रमाकी । लक्ष्मीम् = शोभाको । उवाह = धारण करता था ।

घण्टापथः—[व्यक्तं यथा स्यात्तथा उदिता व्यक्तोदिताः, तैः] व्यक्तोदितैः = स्फुटोद्गतैः [स्मितस्य मयूखाः, स्मितमयूखाः, तैः] स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स तथोक्तः [व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठः = स्पष्टोद्गतस्मितकिरणप्रभासितोष्ठः] । [विकीर्णं धाम यस्यासौ विकीर्णधामा, तस्य] विकीर्णधाम्नः = विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स = नृपः । इद्धं = दीप्तं [अंशुजां जालं] अंशुजालं [= किरणसमूहं] तन्वन्तं गुरुं = गीष्पतिम् । ‘गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ’ इत्यमरः । ‘अभितः परितः’—इत्यादिना द्वितीया । अभितः = अभिमुखं ।

तिष्ठति इति शेषः । [कलाभिः सहितः सकलः, तस्य] सकलस्य = सम् तस्य । शशाङ्का
मूर्तिर्यस्य तस्य = इन्दोर्लक्ष्मीमुवाह [= शोभां] वहति स्म । अत्रोपमेयस्य राशे उपमानेन्दु-
धर्मेण लक्ष्म्याः साक्षात्सम्बन्धाऽसम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसम्भवद्वस्तु-
सम्बन्धात्पदार्थवृत्तिनिर्दर्शनालङ्कारः । तदुक्तम्—‘प्रतिबिम्बस्याऽकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन ।
तत्साम्यमसम्भवता निदर्शना सा द्विधाऽविमता ॥’ इति ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसुरिविरचितायां किराताजुनीयव्याख्यायां

षष्ठापथसमाख्यायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

वाच्य०—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठेन, विकीर्णधान्नो मुनेरभिमुखं तिष्ठता तेन
इदमंशुकान्तं तन्वन्तं गुरुमभितः सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः लक्ष्मीः ऊहे ॥

भावार्थः—स्पष्टं प्रकाशमानस्मितकान्तविराजितोष्ठो राजा युधिष्ठिरः विस्तीर्णतेजसो
व्यासस्य पुरतः तिष्ठन् बृहस्पतेरभिमुखं स्थितस्य पूर्णस्य चन्द्रमसः शोभां वभार ॥

भाषार्थः—मन्द मुसकाते समय दाँतोंकी किरणोंसे चमकते ओठोंवाले और तेजकी फैलाते
व्यासजीके सामने बैठे हुए युधिष्ठिर, अपनी किरणोंके समूहको बिखेरते हुए बृहस्पतिके सामने
स्थित पूर्ण चन्द्रमा जैसे लग रहे थे ॥

विशेष—ज्यौतिषमें भी पूर्णचन्द्रमा यदि अपनी उच्च राशियोंमें या अपने क्षेत्रमें हो और
बृहस्पतिकी उसपर पूर्ण दृष्टि हो तो उसका अतीव शुभ फल कहा गया है । इसीलिये यहाँ भी
कविने उच्चासनस्थ युधिष्ठिरको चन्द्रमा और व्यासजीको बृहस्पति मानकर उनकी कृपादृष्टिसे
पाण्डवोंके उज्ज्वल भविष्यकी सूचना दी है ॥

यह बसन्ततिलका छन्द है । इसके प्रत्येक पादमें तगण, भगण, जगण, जगण और गुरु
होते हैं ॥ ५९ ॥

किराताजुनीयके दूसरे सर्गकी जनार्दनशाली पाण्डेय रचित
हिन्दी विवृति समाप्त हुई ॥





तिष्ठति इति शेषः । [कलाभिः सहितः सकलः, तस्य] सकलस्य = सम् । स्थ । शशाङ्का
मूर्तिर्यस्य तस्य = इन्दोर्लक्ष्मीमुवाह [= शोभां] वहति स्म । अत्रोपमेयस्य राश उपमानेन्दु-
धर्मेण लक्ष्म्याः साक्षात्सम्बन्धाऽसम्भवात्तत्सदृशी लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकणाक्षेपादसम्भवद्वस्तु-
सम्बन्धात्पदार्थवृत्तिनिर्दशनालङ्कारः । तदुक्तम्—‘प्रतिबिम्बस्याऽकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन ।
तत्सान्ध्यासम्भवता निदर्शना सा द्विधाऽविमता ॥’ इति ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किराताजुनीयव्याख्यायां

घण्टापथसमाख्यायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

वाच्य०—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठेन, विकीर्णधान्नो मुनेरभिमुखं तिष्ठता तेन
इदमंशुकान् तन्वन्तं गुरुमभितः सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः लक्ष्मीः ऊहे ॥

भावार्थः—स्पष्टं प्रकाशमानस्मितकान्तिविराजितोष्ठो राजा युधिष्ठिरः विस्तीर्णतेजसो
व्यासुरथ पुरतः तिष्ठन् बृहस्पतेरभिमुखं स्थितस्य पूर्णस्य चन्द्रमसः शोभां बभार ॥

भाषार्थः—मन्द मुसकाते समय दाँतोंकी किरणोंसे चमकते ओठोंवाले और तेजको फैलाते
व्यासजीके सामने बैठे हुए युधिष्ठिर, अपनी किरणोंके समूहको बिखेरते हुए बृहस्पतिके सामने
स्थित पूर्ण चन्द्रमा जैसे लग रहे थे ॥

विशेष—ज्योतिषमें भी पूर्णचन्द्रमा यदि अपनी उच्च राशियोंमें या अपने क्षेत्रमें हो और
बृहस्पतिकी उसपर पूर्ण दृष्टि हो तो उसका अतीव शुभ फल कहा गया है । इसीलिये यहाँ भी
कविने उच्चासनस्थ युधिष्ठिरको चन्द्रमा और व्यासजीको बृहस्पति मानकर उनकी कृपादृष्टिसे
पाण्डवोंके उज्ज्वल भविष्यकी सूचना दी है ॥

यह वसन्ततिलका छन्द है । इसके प्रत्येक पादमें तगण, भगण, जगण, जगण और गुरु
होते हैं ॥ ५९ ॥

किराताजुनीयके दूसरे सर्गकी जनार्दनशास्त्री पाण्डेय रचित
हिन्दी विवृति समाप्त हुई ॥





हमारे महत्त्वपूर्ण छात्रोपयोगी प्रकाशन
[मूल पाठ के साथ संस्कृत-हिन्दी टीका, भूमिका,
नोट्स, एवं अन्य छात्रोपयोगी सामग्री सहित]

	सम्पादक	मूल्य
अभिज्ञान-शाकुन्तलम् (सम्पूर्ण)	सुबोधचन्द्र पन्त (अ) २६; (स) ४०	४०
अमरशतकम्—अमरक		१६
उत्तररामचरित	आनन्दस्वरूप (स) ५०	५०
	(अ) ३५	३५
कादम्बरी (पूर्वार्द्ध)	मोहनदेव पन्त (अ) ५०; (स) ७०	७०
(उत्तरार्द्ध)	(अ) ३५; (स) ५५	५५
कुमारसंभव (१-५ सर्ग)	जगदीशलाल शास्त्री	७
जातकमाला	सूर्यनाराण चौधरी	३५
वशकुमारचरित (सम्पूर्ण)	विश्वनाथ झा	२५
ध्वन्यालोक (चार भागों में)	रामसागर त्रिपाठी प्रथम उद्योत १०	१०
	द्वितीय उद्योत ६	६
	तृतीय, चतुर्थ उद्योत (अ) ३५; (स) ५०	५०
नागानन्द	संसारचन्द्र	२२
नीतिशतक	जनार्दन शास्त्री	६
पंचतंत्र	श्यामाचरण पाण्डेय (अ) ३०; (स) ५०	५०
प्रतिमा-नाटक	श्रीधरानन्द शास्त्री	१५
भट्टिकाव्य (दो भागों में)	राम अश्वघ पाण्डेय (१-४ सर्ग)	८
	राम गोविन्द शुक्ल (५-८ सर्ग)	७
महाश्वेता-वृत्तान्त	मोहनदेव पन्त	१५
मालविकाग्निमित्र	संसारचन्द्र	३०
मेघदूत (सम्पूर्ण)	संसारचन्द्र (अ) १८; (स) ३०	३०
मृच्छकटिक	रमाशंकर त्रिपाठी (अ) ५०; (स) ६०	६०
वृत्तरत्नाकर	श्रीधरानन्द शास्त्री	१४
बैष्णोसंहार	रमाशंकर त्रिपाठी	२२
शिशुपालवध (१-४ सर्ग)	जनार्दन शास्त्री पाण्डेय	१६.५०
साहित्यदर्पण	शालिग्राम शास्त्री (अ) ५०; (स) ६०	६०
सौन्दरनन्द	सूर्यनारायण चौधरी	२८
हर्षचरित (सम्पूर्ण)	मोहनदेव पन्त	१६५
हितोपदेश—मित्रलाभ	विश्वनाथ शर्मा	६

मो तो लाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना

बंगलौर मद्रास

मूल्य : २० ~~२५~~

१०।—